मनुस्मृति एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र की दण्ड व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की
डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता
राम समुझ तिवारी
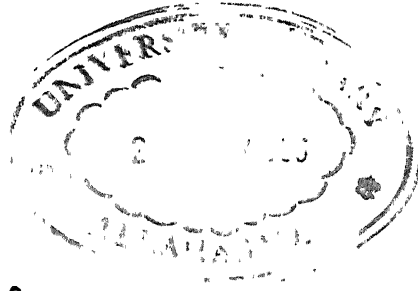
दिग्दर्शक
डॉ० राम किशोर शास्त्री
व्याख्याता
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
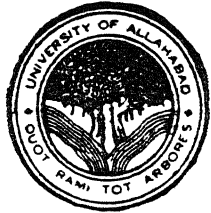
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
सम्वत् २०५०

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य अगाध है । न केवल व्यक्ति अपितु समाज व राष्ट्र जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर भारतीय मनीषियों ने पर्याप्त चिन्तन एवं मनन के पश्चात् विधिवत् प्रकाश डाला है । विश्व के प्रथम विधि-निर्माता के रूप में भगवान् मनु को स्वीकार करने में जहाँ विद्वज्जनों में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है, वहीं आचार्य कौटिल्य जिनके प्रभामण्डल के समक्ष नन्द साम्राज्य धराशायी हो गया और जो मौर्य साम्राज्य की स्थापना के सूत्रधार बने, की राजनीतिक प्रतिभा के सम्बन्ध में भी सुधीजनों को किसी भी प्रकार की विचिकित्सा नहीं है । आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ "अर्थशास्त्र" में तात्कालिक समाज एवं राज्य-व्यवस्था का विधिवत् विवेचन प्रस्तुत किया है । वस्तुतः संस्कृत - साहित्य का अध्ययन करते हुए मुझे पूर्व अभिहित आचार्यों की कृतियों के सम्बन्ध में महती जिज्ञासा समुत्पन्न हुई जिसकी परिणति प्रकृत-शोध प्रबन्ध है ।

भारतीय संस्कृति के प्रति पूर्ण समर्पण तो मेरे जीवन में संस्कारजन्य था। फलतः उसे अधिकाधिक जानने की उत्कट अभिलाषा ने मुझे संस्कृत साहित्य के उच्चाध्ययन हेतु प्रेरित किया । इस प्रेरणा को गुरुजनों के सत्प्रयासों से भी बल मिला । इसी क्रम में जब मैं स्नातकोत्तर कक्षा में अध्ययनरत था तो परम श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० गोपीनाथ टण्डन, संस्कृत-विभागाध्यक्ष, रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमेठी, सुल्तानपुर, उत्तर-प्रदेश, ने मुझे शोध-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया । अतः मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय की प्रेरणा मुझे अपने शोध-निर्देशक डॉ० राम किशोर शास्त्री जी से प्राप्त हुई, जिनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन, आदर्श एवं ग्राह्य वक्तृत्व शैली, ओजस्वी एवं मधुर भाषा, उच्च विचार, गम्भीर व्यक्तित्व यथा-

विहित-विषय-विवेचन, एवं अद्वितीय वात्सल्य स्नेह का प्रतिफल है कि मैं अपना शोध कार्य पूर्ण कर सका । अतएव मैं उनका चिर कृतज्ञ रहूँगा ।

मेरे पूज्य मातुलत्रय श्री राम मूर्ति मिश्र, श्री तीर्थराज मिश्र एवं द्विजराज मिश्र ने बाल्यावस्था से लेकर आज तक पालन-पोषण एवं शिक्षा आदि के जैसे गुरुतम कार्य का सफलतापूर्वक निर्वहन किया वह अनिर्वचनीय है । एतदर्थ मैं उनका जन्म-जन्मान्तर ऋणी रहूँगा ।

मेरी शिक्षा की पूर्णता का श्रेय परम श्रद्धेया माँ श्रीमती सुदामा तिवारी को है, जो असमय में वैधव्य प्राप्त करके भी मुझे पितृस्नेह का यत्किञ्चित अभाव अनुभूत नहीं होने दिया एवं शिक्षा के प्रति सदैव प्रेरित करती रहीं । मैं उनके इस ऋण से कभी भी मुक्त होने की कल्पना नहीं कर सकता हूँ । अपने परम पूजनीय पिता स्व0 श्री राम बहोर तिवारी के प्रति श्रद्धानत हूँ जिनका अप्रत्यक्ष आशीर्वाद मुझे सदैव मिलता रहा । पितृव्यत्रय स्व0 श्री अञ्जनी कुमार तिवारी, श्री राम सकल तिवारी, श्री राम गोपाल तिवारी का वात्सल्यपूर्ण स्नेह एवं आशीर्वाद भी मेरी शिक्षा की सफलता का हेतु रहा । अतः मैं उन सबका अत्यन्त आभारी हूँ ।

मैं अपने प्रारम्भिक गुरुजन श्री राम लखन पाण्डेय एवं श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय का भी अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने मेरे शिक्षा-पथ को प्रशस्त एवं सुगम बनाया । परमादरणीय गुरुवर आचार्य दिवाकर पाल तिवारी, संस्कृत-प्रवक्ता, राम अंजोर-मिश्र, इण्टरमीडिएट कालेज, लालगंज, प्रतापगढ़ एवं आचार्य शिवमूर्ति तिवारी, संस्कृत-प्रवक्ता, हेमवती नन्दन बहुगुणा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लालगंज, प्रतापगढ़ का विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने विद्वतापूर्ण शिक्षण से मेरी संस्कृत के प्रति रुचि

उत्पन्न की ।

अग्रजद्वय श्री शीतला प्रसाद पाण्डेय तथा श्री सुरेश नारायण पाण्डेय का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ । उनका शुभाशीर्वाद एवं सहयोग मेरे पठन कार्य को पर्याप्त सुगम बनाया है । मैं अपने मातुलेय भाइयों का भी कृतज्ञ हूँ जिनके साथ रहकर सफलतापूर्वक शिक्षार्जन कर सका । ज्येष्ठ बन्धुओं श्री राम करण शुक्ल, श्री प्रभाकरनाथ मिश्र, श्री सुन्दर लाल त्रिपाठी, श्री राधेश्याम त्रिपाठी, श्रीयुत श्री नारायण त्रिपाठी, श्री यमुना प्रसाद शुक्ल, एवं श्री दिवाकर नाथ मिश्र के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिनका विशेष अनुग्रह सदैव मेरा पथ प्रशस्त करता रहा है । चिरंजीव कैलाश कुमार शुक्ल, चिरंजीव सुधाकर नाथ मिश्र एवं चिरंजीव भगवानदीन त्रिपाठी के विशेष सहयोग से यह शोध कार्य पूर्ण हुआ । एतदर्थ यह सभी आशीर्वाद के पात्र हैं । गृह के गुरुतर उत्तरदायित्वों एवं कार्यों से मुक्त करने वाली तथा सत्परामर्शदात्री, धर्मपत्नी श्रीमती अशोक कुमारी तिवारी का सहयोग विशेष सराहनीय रहा जिसके लिए मैं उन्हें भी आशीर्वाद देता हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में जिन ग्रन्थों एवं पुस्तकों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अध्ययन किया उन सभी के विद्वान् लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

मैं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के कर्मठ टंकणकर्त्ता श्री राम बरन यादव (बी०ए०) को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अल्पावधि में भी, सहज-भाव से मेरे शोध-प्रबन्ध का टंकण किया ।

अन्त में मैं अपने उन सभी स्वजनों एवं शुभचिन्तकों, जिन्होंने मेरे इस कार्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूप में सहयोग प्रदान किया है, के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए प्रकृत शोध-प्रबन्ध को नीर-क्षीर विवेक हेतु सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

मार्गशीर्ष

तिथि : १०.१२.८३

विनयावनत:

राम समुझ तिवारी

(राम समुझ तिवारी)

विषय-सूची

भूमिका

इस अत्यन्त विचित्र परम्पराओं से परिपूर्ण संसार में ब्रह्मा की निर्मिति में मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है । यद्यपि अण्डज, पिण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज इन चतुर्धा विभक्त सृष्टिक्रम एवं प्राणिवर्गों में आहार, विहार, भय, मैथुनादिकों की एकतुल्यता दृष्टिगोचर होती है किन्तु निश्चयरूपेण कोई ऐसी विशिष्ट क्षमता, योग्यता, दक्षता और विशिष्टता अवश्य है, जिसके कारण मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी माना, गिना और पहचाना जाता है । विधि-निर्मित सृष्टि में तो मनुष्य इतना उत्कृष्ट है ही, साथ ही इसकी समता देवलोक में रहने वाले देवताओं से भी अधिक उन्हीं के शब्दों में आँकी एवं समझी गयी है । वे स्वतः देवलोक से भूलोक में आकर मानव जन्म ग्रहण करना श्रेष्ठ समझते हैं ।[1]

यह श्रेष्ठता विशिष्ट गुणों की परम्परा के द्वारा धार्मिक भावना, संवेदनशीलता, कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान, दयादाक्षिण्यादि उत्कृष्ट गुणवत्ता, चैतन्यता तथा सम्पूर्ण प्राणियों में विशिष्टता के कारण ही प्राप्त है, इसमें सन्देह लेशावकाश नहीं है । भगवान् ब्रह्मा की इस ब्राह्मी सृष्टि में सर्वप्रथम मनु और शतरूपा के युगल से मनुष्य ही अपना स्वरूप धारण किया । मनु से उद्भूत होने के कारण ही प्राणी मानव कहा जाता है । जब संसार में मनुष्य वृद्धिक्रम के अनुसार बहुलता को प्राप्त हो गया तो निश्चित रूप से परम्पराओं एवं मान्यताओं में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था । अधिसंख्य मनुष्यों का आचार-विचार, रीति-रिवाज, नियम, धार्मिक परम्परा आदि के निरूपण की आवश्यकता की अनुभूति की जाने लगी और सम्पूर्ण मनुष्य किसके अनुशासन में नियमों का पालन करें, करणीय कार्यों

की ग्राह्यता तथा अकरणीय कार्यों का निषेध किस परिपाटी के अनुसार किया जाय, धार्मिक क्रिया-कलापादि का प्रचार, प्रसार एवं विकास किस परम्परा के अनुसार किया जाय, सामाजिक व्यवस्था का संचालन किस प्रकार हो, प्राणियों में हिंसाचरण और अन्याय-विधि का प्रतिकार किस नियम के अन्तर्गत हो, समाज में व्याप्त विविध दोष तथा उनके निराकरणोपाय का विधान किस प्रकार निरूपित किया जाय, चतुर्दिक व्याप्त कुरीति उन्मूलनोपाय कौन-कौन है, मानव-मानव का आदर किस प्रकार करे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चतुर्वर्णों में स्व-स्ववर्णानुसार कर्त्तव्य-निर्धारण किस प्रकार किया जाय, आहारादि व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए, मानवकृत अपराधों का दण्ड निर्धारण तथा उत्तम कार्यों का पुरस्कार प्रदान आदि व्यवस्थाओं का मनन, चिन्तन, निरूपण मानव के मन में एक अनिवार्य आवश्यकता अनुभूत की जाने लगी । इन्हीं उक्त आवश्यकताओं को उद्दिष्ट करते हुए भगवान् मनु ने मनुस्मृति नामक ग्रन्थ का प्रणयन करके एक ऐसा महान् उपकार मानवों के प्रति किया है कि उसी व्यवस्था के अनुसार उस काल से लेकर आज तक यत्किंचित परिवर्तन और परिष्कारपूर्वक सम्पूर्ण नियम मनुष्यों के द्वारा माननीय एवं ग्राह्य बने हुए हैं । इस अत्यन्त भौतिक एवं प्रगतिवादी युग में भी भगवान् मनु द्वारा बनाए गये नियमों का ही परिपालन सर्वत्र न्यायालयों में दिखाई पड़ता है । युगों-युगों से पूर्व जन्म लेने वाला यह महर्षि मनु अपने द्वारा बनाये गये शाश्वतिक नियमों के कारण आज भी उतना ही आदरणीय और ग्राह्य हैं । यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज की न्यायिक-प्रक्रिया भगवान् मनु के नियमों से पूर्णतया अनुप्राणित है । यही कारण है कि भारत के कतिपय न्यायालयों के परिसर में भगवान् मनु की ही मूर्ति स्थापित

है । संसार के नीतिगत निर्धारकों में यदि सर्वमान्य नीतिकर्ता के रूप में किसी को स्वीकार किया जाता है तो उनमें भगवान् मनु और चाणक्य (कौटिल्य) का नाम आदर के साथ लिया जाता है । यह एक ध्रुव सत्य है कि जैसे अपने तटबन्धों को तोड़ती हुई जलधारा यदि विश्रृंखल होती है तो उसके अवरोधनार्थ पुलों एवं बन्धों का निर्माण करके एक सुनियोजित ढंग से निश्चित दिशा की ओर ले जाया जाता है । ठीक उसी प्रकार यदि मानव अपनी स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दोषों एवं त्रुटियों के कारण यदि दिग्भ्रान्त और किंकर्त्तव्यविमूढ़, आचारानाचार ज्ञान में अक्षम तथा पूज्यापूज्य में व्यतिक्रम तथा नियमज्ञान-शून्यता के कारण यदि सुपथ का परित्याग करके, कुपथप्रवृत्त होने लगता है तो निश्चयेन उसके लिए सत्पथ पर ले आने के लिए अनेक प्रकार के कठोर, सरल, दण्डात्मक तथा भयात्मक नियमों का निर्माण भी आवश्यक हो जाता है । इसी परम्परा का परिपालन करते हुए भगवान् मनु ने मनुष्यों के लिए एक अद्वितीय ग्रन्थ 'मनुस्मृति' का निर्माण करके सत्पथ प्रवृत्ति और कुपथ त्याग का उपदेश विस्तारपूर्वक दिया है । यह नियम किसी एक जाति, वर्ग के लिए न होकर, सम्पूर्ण मानवमात्र के कल्याणार्थ उपदिष्ट हैं । यह भगवान् मनु हमारे भारतवर्ष के उत्कृष्टतम महर्षि हैं जिन्होंने अपनी कृति में दण्डापराध की व्यवस्था का उपस्थापन जिस वैज्ञानिक शैली में किया है, उसी का यह प्रतिफल है कि आज भी लोग उनके नियमों का स्मरण करते हुए आपराधिक प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होते हैं । जिन-जिन नियमों का प्रतिपादन भगवान् मनु ने किया है वे सम्पूर्ण नियम मानवों की अपराध गति को वैसे शिथिल कर देते हैं जैसे रथगति को अभीषु (लगाम) । यदि मनु निर्मित उस प्रकार की उत्कृष्ट नियम-व्यवस्था न होती तो मनुष्यों में अपराध की प्रवृत्ति इतनी बढ़

जाती कि भारत का उत्कृष्टतम स्वरूप, जो विश्व में विश्वगुरुत्व के रूप में प्रतिष्ठित है वह पूर्णतः नष्ट ही हो चुका होता । मनु प्रतिपादित दण्ड व्यवस्था का ही यह परिणाम है कि मनुष्य का हिंसा से निवृत्ति, सम्पूर्ण स्त्रियों में मातृवत्ता, पर-द्रव्यों के प्रतितृणमन्यता, उपकार की भावना, पर-दुःखों में दुःखानुभूति, पर-सुखों में सुखानुभूति इत्यादि आदर्श सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं । किं बहुना, सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था ही मनु प्रतिपादित नीति-व्यवस्थानुसार ही चल रही है । इन उक्त सम्पूर्ण विशिष्टताओं से परिपूर्ण भगवान् मनु का समय क्या रहा होगा ? यह एक चिन्तनीय विषय बना हुआ है, किन्तु जिन भगवान् मनु की व्यवस्था को अंगीकार करते हुए यह सम्पूर्ण संसार प्रचलित हो रहा है । उन भगवान् मनु का समय-निर्धारण यद्यपि एक दुरूह समस्या है किन्तु कल्पनाओं, यत्र-तत्र प्राप्त साक्ष्यों तथा विद्वज्जनों की कृतियों के आधार पर शोध-प्रबन्ध में उनका सामान्य परिचय देने का एक लघु प्रयास किया जा रहा है।

मनुस्मृतिकार भगवान् मनु का परिचय :

सनातन परम्परानुयायी भारतीयों की सृष्टि-विज्ञान का विकास शनैः शनैः हुआ । इस सिद्धान्त के अनुसार संसार चक्रान्तर्गत चक्रों में शाश्वत रूप में चलता रहा है । मूल चक्र कल्प है, जो ब्रह्मा का एक दिन होता है और पृथ्वी के 4320 करोड़ वर्षों के बराबर है । इतनी ही दीर्घता ब्रह्मा की रात्रि की भी मानी गयी है । इस प्रकार 360 दिन एवं रात्रि ब्रह्मा के एक वर्ष का निर्माण करते हैं एवं उनका जीवन ऐसे ही 100 वर्षों का माना जाता है । प्रत्येक सार्वभौम दिवस में ब्रह्मा सृष्टि की रचना करता है और पुनः उसे विलीन

कर लेता है। विलीनावस्था में सम्पूर्ण विश्व उसकी काया में एकत्रीभूत होकर समाविष्ट हो जाता है तथा वह स्वयं प्रभुविष्णुता के रूप में बना रहता है। प्रत्येक कल्प में चौदह गौड़ चक्र अथवा मन्वन्तर होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर 306720000 वर्षों का होता है एवं उनके बीच में एक दीर्घ मध्यान्तर होता है। इसी अवधि में ब्रह्मा पुनः संसार की सृष्टि करता है, जिसमें सर्वप्रथम नवीन मनु अर्थात् मनुष्य जाति के जनयिता के रूप में जन्म ग्रहण करता है। आजकल हम उस कल्प के सातवें मन्वन्तर में हैं जिसका मनु 'वैवस्वत' है। सृष्टि उत्पत्ति के इस सिद्धान्त पर यह बात स्पष्टतया प्रतीत होती है कि ब्रह्मा के बाद इस संसार के मानव जाति के रूप में सृष्टि निर्माण करने का उत्तरदायित्व मनु के रूप में आता है। मनु पौराणिक आख्यानों के आधार पर ब्रह्मा की मानसिक उत्पत्ति हैं। आदि सृष्टि में मानव के रूप में जिस युग्म से मानवसृष्टि बनी, उस मिथुन का नाम मनु और शतरूपा ही माना जाता है। यह मनु ही प्रथम स्वायम्भुव मनु हैं। किसी से उत्पन्न न होने के कारण, मानसिक उत्पत्ति के फलस्वरूप प्रथम मनु का नाम स्वायम्भुव मनु पड़ा और इन्हीं मनु से उत्पन्न होने के कारण सम्पूर्ण जाति मानव जाति कहलाने लगी। मनु की सन्तान होने के कारण ही सभी जनवृन्द को मानव कहा जाता है। 'स्कन्दपुराण' में भी स्वायम्भुव मनु का उल्लेख किया गया है।[2]

हिन्दी जगत के महान् कवि, सन्तशिरोमणि तुलसीदास ने भी सृष्टि की उत्पत्ति के रूप में मनु और शतरूपा को ही अंगीकार किया है।[3] इसी क्रम में अष्टादश पुराणों के कर्त्ता महर्षि वेदव्यास ने भी भगवान् मनु के उत्पत्ति के

क्रम में श्रीमद्भागवत महापुराण में परमात्मा के स्वरूप में ही उनके (मनु) अवतार की चर्चा की है । उनका यह मत है कि सृष्टि के आदि में परब्रह्म परमात्मा ही पुरुष रूप में मनु के रूप में जन्म ग्रहण करके सृष्टि-प्रक्रिया का संचालन किया।[4]

इस प्रकार कतिपय आर्षग्रन्थों तथा इतिहासपरक ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भगवान् मनु इस सम्पूर्ण मानव जाति के जन्मदाता हैं । निश्चित रूप से मनु ने जिस स्मृति का प्रणयन किया, वह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए ही किया होगा क्योंकि मनु कालीन व्यवस्था अत्यन्त शुद्ध, निर्दुष्ट एवं सार्वभौम थी । जिसके आधार पर उन्होंने भावि-मानव-समूह के लिए सर्वाङ्गपूर्ण नियमों का प्रणयन किया । यह मनु भगवान् मनु के नाम से कहे जाते हैं क्योंकि इनमें सर्वविध भगवत्तत्व विद्यमान थे । भगवान् मनु ने विश्व के रहस्य के द्रष्टा के रूप में नितान्त मानवोपयोगी नियमों का प्रणयन करते हुए जिस अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है, वह मानव बुद्धि से परे की ही प्रतीत होती है । आत्मानुशासन, आध्यात्मिकता का विकास, अवर्णनीय अन्तर्दृष्टि, हस्तामलकवत् दिखाई पड़ने वाले भविष्य के ज्ञाता, अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण मनु ने एक ऐसे लोक-नियामक, नियमपरक ग्रन्थ की रचना की, जो अतिप्राचीन होते हुए भी, आज भी पूर्णतया प्रासंगिक बना हुआ है ।

इस प्रकार भगवान् मनु कालातीत रचनाकार के रूप में, स्वयं काल की सीमा से परे माने जाते हैं । भगवान् मनु का काल-निर्धारण सामान्यतया अनु-मानों पर ही आधारित कहा जा सकता है क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति ही इतनी

रहस्यमय बना है कि जिसका यथोचित काल सीमाङ्कन करना द्रविड़ व्यायाम ही है। वैसे भी महाविभूतियाँ काल एवं स्थान से परे ही मानी जाती हैं क्योंकि उनका जन्म न तो किसी एक निश्चित स्थान के लिए और न किसी निश्चित काल के लिए होता है। वे किसी एक काल के परिचायक न होकर, कालत्रय के परिचायक माने जाते हैं। महापुरुषों के उपदेश हमेशा उस व्यक्ति को अमर बनाये रहते हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर भगवान् मनु भी किसी एक काल एवं देश के न होकर सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक माने जाते हैं। यह बात सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में ही कही गयी है कि ब्रह्मा समय समय पर सृष्टि का निर्माण करते हैं और उनकी सृष्टि का सर्वप्रथम निर्माण मनु ही होता है।

मनुस्मृति का रचनाकाल विवादपूर्ण है। इस विषय में न उलझकर सामान्य रूप से हमें धर्मसूत्रों के पश्चात् और याज्ञवल्क्य स्मृति के पूर्व रची गयी कह सकते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् काणे इसे (मनुस्मृति) 200 ई0पू0 से 100 ई0 के मध्य और ब्यूलर 200 ई0पू0 से 200 ई0 के मध्य रखते हैं। न्याय तथा विधि सम्बन्धी बहुत सी बातों का मनुस्मृति में संक्षिप्त वर्णन है परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में इनका अधिक विस्तृत विवरण प्राप्त है, जिससे भी मनुस्मृति की प्राचीनता सिद्ध होती है। भारतीय परम्परानुसार भी भगवान् मनु सर्वप्रथम विधि-प्रणेता एवं वेत्ता हैं।

मृदुजलवाहिनी, पापनिवारक, पुण्य-प्रदायिनी नदियों के जल से अत्यन्त शुद्ध-विशुद्ध यह भारतवर्ष चारों दिशाओं में बहुविध प्राकृतिक छटाच्छन्न, हिमाद्रि,

सुमेरादि पर्वतों से युक्त तथा काश्मीरादि प्राकृतिक सुषमाओं से सुसम्पन्न, सस्य-श्यामला हरित्क्रान्ति से परिपूर्ण है । यहाँ की भूमि प्रचुर अन्न-प्रदात्री तथा रत्नगर्भा है । बहुविध फलान्न, शाकादि की उद्भावित्री यह धरा प्रकृतिगत मनोहारिणी विशेषता से ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु इस धरा पर जन्म लेने वाले अनेक अन्त:पूत ऋषियों-महर्षियों की जन्मदात्री होने के कारण भी श्रेष्ठ है । इस भारतभूमि पर प्राचीनकाल में लोग वनों, पर्वतों, नदियों के सुन्दर तट तथा शान्तिमय एकान्त स्थलों में अपना जीवन व्यतीत किया करते थे जिनका मुख्य कार्य यावज्जीवन सत्यान्वेषण, सम्यक् ज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त करना होता था । सत्य के अन्वेषकों को ही मुनि, ऋषि या महर्षि की संज्ञा दी जाती थी । इन्हीं ऋषियों, मुनियों द्वारा प्रणीत मानव-जीवन-यापन-निमित्तिक नियमों का परि-पालन ही इस देशवासियों का उत्कृष्टतम चरित्र रहा है । केवल सामान्य जन ही नहीं अपितु राजा, महाराजा भी महर्षि प्रवर्तित नियमों का पालन अक्षरश: किया करते थे और प्रजा उनका अनुकरण । आज भी सम्पूर्ण देश में सभा या संसद की परिकल्पना की गयी है जिसका कार्य विधि-निर्माण ही है । यह सभा देश-हित के लिए नियम-विधान करती है । लोगों द्वारा इन नियमों का पालन किया जाता है ।

प्राचीनकाल में महर्षि प्रणीत इसी प्रकार के नियमों के संकलन ग्रन्थ को 'स्मृति' नाम से अभिहित किया जाता था । समय-समय पर मनुष्यों की आव-श्यकतानुसार बहुविध स्मृतियों का प्रणयन बहुविध ऋषियों-महर्षियों द्वारा किया गया । इस प्रकार शनै: शनै: स्मृतियों की संख्या अधिक होती गयी, जिनका

नामकरण भी ऋषियों के साथ जुड़ता गया । इस क्रम में यह भी निवेद्य है कि जिस ऋषि के द्वारा जिस स्मृति का निर्माण किया जाता था वह स्मृति उसी के नाम से समझी जाती थी । यथा-मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति, हारीत स्मृति आदि । इन सम्पूर्ण स्मृति समूहों में मनुस्मृति अत्यन्त प्राचीन स्मृति है । इसके प्रणेता भगवान् मनु मानवों के पूर्वज हैं । मनु की संख्या चौदह है जिनके नाम निम्नलिखित हैं :-

1. स्वायम्भुव,
2. स्वारोचिषि,
3. औत्तमि,
4. तामसि,
5. रैवत,
6. चाक्षुष (चायुष)
7. वैवस्वत,
8. सावर्णि,
9. दक्षसावर्णि,
10. ब्रह्मसावर्णि,
11. धर्मसावर्णि,
12. रौद्रसावर्णि,
13. रौच्य सावर्णि, एवं
14. भौत्य सावर्णि ।[5]

इन उक्त चतुर्दश मनु में मनुस्मृतिकार मनु आदि भगवान् स्वायंभुव ही हैं । उपलब्ध मनुस्मृति आदि मनु की ही कृति है अथवा उसका कोई परिष्कृत

रूप है । इसका सन्देह निर्णय किस प्रकार किया जाय ? यह एक शोध एवं चिन्तन का विषय बना हुआ है । कौन मनुस्मृति प्राचीन है ? उसका प्राचीनतम स्वरूप क्या था ? इस सन्दर्भ में कोई निश्चित निर्णय कर पाना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि मनुस्मृति का प्राचीनतम स्वरूप बहुत परिवर्तित हो चुका है किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज जो मनुस्मृति उपलब्ध है उसके आदि प्रणेता स्वायम्भुव मनु ही हैं, जो हम लोगों के पूर्वज हैं । स्वायंभुव आदि सम्पूर्ण मनु अपने अपने काल में सृष्टि की रचना करके उसका अनुपालन करते थे । आज जो मनुस्मृति है यह वही पुरानी मनुस्मृति है । मनु इसके कर्त्ता हैं। अतएव यह मनु स्मृति इस नाम से लोक-प्रसिद्ध है ।

मनुस्मृति में राजा और प्रजा के धर्म के साथ-साथ प्रत्येक वर्णों का धर्म भी निगदित है । इसके अध्ययन से यह बात ज्ञात होती है कि हम लोगों के पूर्वज इतने सुविचारवान् थे कि वे अतिदीर्घकालीन चिन्तन और परीक्षण के माध्यम से जीवन सम्बन्धी जिन वस्तुओं का ध्यान करके एक नियम के रूप में उपहार स्वरूप जो ज्ञान प्रदान किया है वह आज अतर्क्य, अचिन्त्य, अवर्ण्य होकर एक स्वस्थ परम्परा का प्रतिपादन करने में पूर्णत: सक्षम है । सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक न जाने कितनी व्यवस्थाएँ प्रभूत एवं विनष्ट हुईं, न जाने कितनी परम्पराओं का उदय एवं विनाश हुआ, कितने नियमोपनियम निर्मित एवं विनष्ट हुए होंगे किन्तु मनु द्वारा प्रतिपादित नियमों का जितनी सार्थकता एवं उपयोगिता प्राचीन काल में रही होगी, आज कहीं उससे भी अधिक वे मनु प्रतिपादित नियम जीवनोपयोगी और अतिशय प्रासंगिक बने हुए हैं । सत्य तो यह है कि विश्व के विभिन्न

देशों के संविधान एवं राजा-प्रजा के कर्त्तव्य तथा धर्माधर्म का अवलोकन किया जाय तो निश्चित रूप से ये सभी स्वायम्भुव मनु की नियम प्रतिपादक ग्रन्थ मनुस्मृति से पूर्णतया प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। भारतीय न्यायपालिका और संविधान तो निश्चप्रच रूप से प्रभावित तो है ही।

आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) का जीवन-परिचय :

आचार्य कौटिल्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। भगवान् मनु की तरह इनका जीवन तर्कों, साक्ष्यों एवं प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि कौटिल्य एक ऐसे राजा के मन्त्री के रूप में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक ग्रन्थों में सर्वत्र वर्णित हैं। मनु का जीवन परिचय जिस प्रकार तमसाच्छन्न है जन्म-समय एवं जन्म-स्थान को केवल कपोलकल्पित कल्पनाओं से आकलित किया जाता है। वह स्थिति मनु के समान ही राजनीति के सन्दर्भ में विशद व्याख्यात्मक नियमोपनियम, राजा-प्रजा के धर्म विवेचक, किं बहुना राजनीतिपरक विशद व्याख्यात्मक ग्रन्थ (कौटिलीयमर्थशास्त्रम्) के प्रणेता आचार्य चाणक्य के सन्दर्भ में नहीं है। उनका जीवन परिचय कुछ विसंगतियों को छोड़कर दिन में दिखायी पड़ने वाली वस्तुओं की भाँति अत्यन्त स्पष्ट है। राजनीति जगत का यत्किंचित ज्ञान रखने वाला भी वह कौन सा व्यक्ति होगा जो लम्बी शिखा वाले इस कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ, विधिज्ञ एवं सर्वतोन्मुखी प्रतिभा-प्रभा-सम्पन्न आचार्य कौटिल्य का नाम न जानता होगा।

अर्थशास्त्र के विश्वश्रुत विद्वान् आचार्य कौटिल्य का नाम विभिन्न ग्रन्थों

में अनेक रूपों में प्राप्त होता है । यथा -

1. कौटिल्य,
2. कोटिल्य,
3. कौटल्य, एवं
4. कोटल्य ।

निश्चित ही ये सभी शब्द चाणक्य के नाम के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं । पुराणों में विष्णु पुराण (4.24.6-7), वायुपुराण (37.324-325), मत्स्यपुराण (4.27.2), गरुड़ पुराण (105.18), स्कन्दपुराण (3.3.11.24) एवं नारद पुराण (84.19) में कौटिल्य शब्द का प्रयोग मिलता है ।

मुद्राराक्षस (1.7,7), कादम्बरी, अभिधान-चिन्तामणि, क्षीर स्वामी, नीलकण्ठ, रघुवंश, वैजयन्तीकोश, हेमचन्द्र-कोष, नाममाला तथा तंजौर पाण्डुलिपि, त्रिवेन्द्रम संस्करण, धर्मशास्त्र के इतिहास में स्व0 काणे ने भी कौटिल्य शब्द का प्रयोग किया है । इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रन्थों में भी जैसे यादव प्रकाश, यशोधर एवं भोजराज प्रणीत नाम मालिका में भी कौटिल्य शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है ।

कौटिल्य :

इदापल्ली, पत्तन (पाटन) भण्डार पाण्डुलिपियों में 'टि' की जगह पर 'ट' का प्रयोग प्राप्त होता है किन्तु पत्तन भण्डार की पाण्डुलिपि में 'टि'

बनाया गया है । मलयालम भाषा में जयमंगला टीका के प्रथम भाग में 'ट' तथा 'कामन्दक नीतिशास्त्र' (कलकत्ता संस्करण सन् 1884 ई0) में पाँच स्थानों पर 'ट' तथा बारह स्थानों पर 'टि' लिखा हुआ प्राप्त होता है । भावनगर संस्करण, निर्णय सागर में तथा सूरत संस्करण में 'टि' मुद्रित है । सम्वत् 1234 वि0 सन् 1291 ई0 में गुजरात के द्योतक शिलालेख में जिसे वास्तुपाल, जो राजा वीरधवल का मंत्री था 'ट' उत्कीर्ण है । मैसूर विश्वविद्यालय के संस्करण में "कौटलीय" अर्थात् 'टि' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग मिलता है । गणपति शास्त्री का मत है कि 'चाणक्य' कुटिल नीति का पुरस्कर्त्ता था । अतएव इनका नाम 'कौटिल्य' पड़ा था । सातवीं शताब्दी के कामरूप के भास्कर वर्मा के तृतीय विधा पत्र पर प्रथम तरफ की पाँचवीं पंक्ति में 'कौटल्यो:' शब्द उत्कीर्ण है । इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न ग्रन्थों एवं स्थानों तथा शिलालेखों पर कहीं कौटिल्य, कहीं कौटल्य, कहीं कोटिल्य तथा कहीं कोटल्य नाम प्राप्त होता है । ये सभी नाम आचार्य चाणक्य के ही प्रतिबोधक हैं ।

आचार्य चाणक्य का पारिवारिक नाम विष्णुगुप्त था । चणक नामक स्थान पर निवासी होने के कारण इनका नाम चाणक्य भी पड़ गया था । एक मत है कि इनके पिता का नाम चणक था । चणक का पुत्र होने के कारण इनका नाम चाणक्य पड़ गया था । कुटिल इनका गोत्र अथवा प्रवर था । अत: गोत्र के नाम पर दूसरा नाम कौटिल्य पड़ गया । हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि में वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटिल, चणकात्मक, द्रामिल, पक्षिल, विष्णुगुप्त तथा कामन्दकीय नीतिशास्त्र (सन् 400 ई0) में विष्णुगुप्त नाम प्राप्त होता है ।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थावलोकन से यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य कौटिलेय, कौटिल, चाणक्य, विष्णुगुप्त, आथर्वव सब एक ही नाम के पर्यायवाची अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य चाणक्य के ही नाम हैं।

कौटिल्य के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान् लेखक उनका जन्म-स्थान गान्धार क्षेत्र स्थित तक्षशिला तथा कुछ अन्य विद्वान् मगध अर्थात् बिहार मानते हैं। पाटलिपुत्र अर्थात् पटना और गया के बीच में एक स्थान चणका है। यह जहानाबाद से दो स्टेशन उत्तर तथा नदोल स्टेशन से पूरब है। यह ब्राह्मणों का गाँव है। यहीं के समीप स्थित अनेक गाँवों में चणकिया ब्राह्मण निवास करते हैं। वे ब्राह्मण अपना गोत्र कौटल या कौडल बताते हैं।

चणका शब्द चाणक्य का विकृत रूप (अपभ्रंश) ही है। इसी प्रकार कौटिल या कौडिल का अपभ्रंश कौटल है। चणका स्थान पटना से सात-आठ कोस दक्षिण में स्थित है। आचार्य चाणक्य अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों में दो वर्ग महाभारत काल में हो चुके थे - प्रतिग्राहक तथा अप्रतिग्राहक।

महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय 199 में प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है। अयाचक ब्राह्मणों की श्रेणी में गान्धार एवं पश्चिमी पंजाब के मोहियाल या महीपाल, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के त्यागी तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के भूमिहार महाराष्ट्र के चितपावन तथा गुजरात के अनाविल पाये जाते हैं।

उत्तर भारत में ब्राह्मणों की मुख्य शाखा सारस्वत एवं कान्यकुब्ज है। सारस्वत यमुना नदी के पश्चिम और कान्यकुब्ज यमुना के पूर्व में बंगाल तक फैले हुए हैं। सारस्वत ब्राह्मण काश्मीर से धुर दक्षिण मंगलौर तक फैले हैं। सारस्वत लोगों के गति की यह दिशा सरस्वती नदी के सूख जाने के कारण हुई है। सरस्वती नदी हिमालय से निकलकर राजस्थान होकर सिन्धु नदी में मिलती है। सरस्वती नदी सूखते सूखते अब कुरुक्षेत्र के समीप तक रह गयी है जिसे अब घग्घर कहते हैं।

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की पाँच शाखाएँ हुई हैं उनमें सरयूपारी, सनाढ्य जुझौतिया, भूमिहार ब्राह्मण तथा मैथिल हैं। इसी प्रकार सारस्वतों की मुख्य शाखाओं में सारस्वत तथा महीपाल या महीवाल भी हैं। कान्यकुब्ज की शाखाओं में भूमिहार तथा सारस्वत में महीवाल अयाचक या अप्रतिग्राही ब्राह्मण हैं। कामन्दक ने चाणक्य को अप्रतिग्राही या दान न लेने वाला लिखा है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र ने मुसलमानों के विरुद्ध काशी में हिन्दुओं की सभा की थी। उसमें महीवाल ब्राह्मण उपस्थित थे। अयाचक और याचक ब्राह्मण में सबसे बड़ा अन्तर यह था कि अयाचक ब्राह्मणों का सम्बन्ध भूमि से था। वे शस्त्र धारण करते थे। दान, अध्यापन, यज्ञादि कार्य नहीं करते थे। अयाचक ब्राह्मणों में महाराष्ट्र के पेशवा लोग थे। उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब में वे जमींदारी का कार्य करते थे। सिकन्दर से युद्ध करने वाला पोरस महीवाल ब्राह्मण था। महीवाल लोग अरब तक फैले थे। वे इमाम हुसेन के पक्ष से युद्ध किये थे। महीवाल ब्राह्मणों की यह शाखा पश्चिम मुस्लिम देशों में हुसैना

ब्राह्मण कही जाती है ।

कौटिल्य को इसी आधार पर बिहार के भूमिहार लोग भूमिहार तथा महीपाल लोग महीवाल वंशज मानते हैं । कौटिल्य चाहे जिस किसी ब्राह्मण वर्ग का रहा हो परन्तु वह अयाचक ब्राह्मण था । हो सकता है कि कौटिल्य पाटलिपुत्र के समीप का निवासी होते हुए भी तक्षशिला, जो उस समय विद्या एवं चिकित्साशास्त्र का केन्द्र था, अध्ययन करने गया हो । बंगाल के गौड ब्राह्मण लोग सुदूर काश्मीर में अध्ययन करने जाते थे । काश्मीर का नाम शारदा देश था । उस समय काश्मीर के शारदीय और विजयेश्वर संस्कृत अध्ययन के केन्द्र थे। शारदीय कृष्ण गंगा के तट पर काश्मीर के उत्तर-पश्चिम पाकिस्तान में स्थित है ।

भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक ने भी तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी । तक्षशिला उन दिनों भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं शिक्षा का केन्द्र था । वहाँ पश्चिम के विद्वान् अध्ययन अध्यापन के लिए सुदूर क्षेत्रों से आया करते थे । उस समय तक्षशिला, गान्धार देश का प्रसिद्ध नगर था । यही नहीं वह उस समय बौद्ध दर्शन का उच्च एवं उत्कृष्टतम केन्द्र के रूप में जाना पहचाना जाता था । कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में अनेक वनस्पतियों एवं धातुओं का वर्णन किया है, जो उस समय गान्धार में ही प्राप्त होते थे । कुछ विद्वान् लोग गान्धार को आधुनिक कन्धार की संज्ञा देते है किन्तु यह गलत है । कन्धार शब्द स्कन्धावार, जिसका अर्थ - सैनिक छावनी होता है, का अपभ्रंश है । चन्द्रगुप्त मौर्य ने विदेशी

आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए अपनी सैनिक छावनी §स्कन्धावार§ कन्धवार में बनायी थी, चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य की सामरिक नीति यह थी कि विदेशी आक्रामकों का सामना देश में प्रवेश के पूर्व ही देश की सीमा के बाहर ही करना चाहिए । चाणक्य का सम्बन्ध भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र से था । वहाँ के विषय में उनके साधिकार लिखने का यही कारण है कि उन्होंने उक्त क्षेत्र को भलीभाँति देखा था । यही नहीं वह अध्ययन भी किये थे ।

आचार्य कौटिल्य ने अपने विचार सूत्रों में प्रकट किये हैं । उन दिनों सूत्रों में लिखने की ही शैली पूर्णतया विकसित थी । उनके इस ग्रन्थ §कौटिलीय-मर्थशास्त्रम्§ में 380 श्लोक हैं किन्तु इस विषय में विद्वानों में विवाद है । अनेक श्लोक प्रक्षिप्त हैं । सूत्र शैली में लिखे हुए ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अध्याय के अन्त में श्लोक लिखने की प्रथा सूत्र-ग्रन्थों में नहीं थी । अध्याय की बातों का श्लोकों में ही एक प्रकार से उपसंहार किया गया है ।

आचार्य कौटिल्य दक्षिण के ही ब्राह्मण थे और अर्थशास्त्र दक्षिण की रचना है । इस सिद्धान्त की मान्यता दाक्षिणात्य विद्वानों एवं लेखकों ने किया है । वे विद्वान् अपने तर्क के समर्थन में जोर दिये हैं । अर्थशास्त्र की कोई भी पाण्डुलिपि उत्तर भारत में नहीं मिली है । अतएव यह दक्षिण की रचना है । परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने सम्राट् पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद, ई0पू0 §ईसा पूर्व§ 299 वर्ष में दक्षिण चला गया था एवं वहाँ

उसकी मृत्यु भी हुई था । चाणक्य के कारण ही चन्द्रगुप्त को राज्य प्राप्त हुआ था । चाणक्य ने एक प्रकार की राज्यसंहिता देश को प्रदान किया था तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक इकाई में करने का गौरव भी उन्हें प्राप्त हुआ था । कौटिल्य के सामने सम्पूर्ण भारतवर्ष मूर्तिमान एक इकाई के रूप में हो गया था। इसलिए इन सभी तथ्यों के आधार पर चाणक्य भी चन्द्रगुप्त मौर्य के समान ही राज्यकार्य से विरक्त होकर अपने सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ ही दक्षिण चला गया होगा । इसी अवकाशकाल में ही उन्हें अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना के लिए समय मिला होगा ।

आचार्य कौटिल्य को सम्राट् चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री होने का गौरव प्राप्त था । उनका (चन्द्रगुप्त) महामात्य होने के कारण, उन्हें अपनी रचना की सामग्री के लिए स्रोतों की कमी नहीं थी । उन्होंने अपने राजनीतिक प्रभाव अनुभव तथा बुद्धि का प्रयोग अर्थशास्त्र की रचना में किया है । अर्थशास्त्र की रचना, शैली, लेखनक्रम तथा भाषा के प्रभाव से यह परिलक्षित होता है कि अर्थ-शास्त्र भिन्न भिन्न समयों में न लिखा जाकर, एक समय में ही लिखा गया है । सुदूर दक्षिण में प्रवास होने के कारण, चाणक्य को दक्षिण का भी पर्याप्त अनुभव प्राप्त हुआ था, ऐसा उनके स्वयं के वर्णन से स्पष्टतया प्राप्त होता है । उन्होंने अपने ज्ञानानुभव तथा अनेक प्रकार के स्रोतों से ज्ञानार्जन कर, दक्षिण तथा समुद्रादि के विषय में लिखा है । तक्षशिला अथवा पटना में नदियाँ, स्रोतस्विनियाँ तथा तडाग थे । समुद्र नहीं था । चाणक्य समुद्र का दर्शन एवं ज्ञान दक्षिण में ही किया था । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण

के प्रयास काल में आचार्य कौटिल्य ने किया था । भारत के उत्तर और दक्षिण दोनों का विशद एवं वास्तविक वर्णन, वहाँ के खनिज-वनस्पति एवं समुद्र से प्राप्त होने वाले वस्तुओं एवं सामग्रियों का उल्लेख कौटिल्य ने प्रामाणिक रूप से किया है । यही कारण है कि अर्थशास्त्र की पाण्डुलिपि दक्षिण में प्राप्त हुई है । यही नहीं, पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियाँ भी दक्षिण में हो की गयीं । केवल एक लिपि पाटन भण्डार से प्राप्त हुई है । वह बारहवीं शताब्दी की प्रतिलिपि है । उसमें प्रथम तथा द्वितीय अधिकरण के दस अध्याय तक लिपिबद्ध है । इसे उत्तर भारत की पाण्डुलिपि नहीं कह सकते हैं ।

आचार्य कौटिल्य ने पाणिनीय व्याकरण का पूर्णतया अनुकरण नहीं किया है । यद्यपि पाणिनि का समय कौटिल्य से 200 वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है । श्लोकों की रचना पाणिनि व्याकरण के अनुसार की गई है । आचार्य चाणक्य के समय शब्दों का जो अर्थ व रूप था, वह अब नहीं है । अनेक शब्द अप्रचलित हो गये हैं । लगभग 2300 वर्षों में अनेक प्रकार की जातियाँ भारतवर्ष में प्रवेश की, फलत: अनेक भाषाओं का सम्पर्क भारतीयों को हुआ । अनेक प्रकार की शासन पद्धतियाँ विदेशी शासन के अन्तर्गत भारत में प्रचलित हुईं । उस समय की आर्थिक, रण-व्यवस्था, रण-रचना तथा सुरक्षा व्यवस्था आधुनिक काल के लिए अनुपयोगी हो गयी हैं । भारत में हिन्दू राजाओं के समय में रणनीति एवं शासन व्यवस्था का आधार कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा स्मृतियाँ थीं, किन्तु मुसलमानी शासन में अरबी, ईरानी या भारतीयेतर रणनीति, राजनीति एवं अर्थनीति का प्रवेश भारत में हुआ । अतएव प्राचीन एवं मध्ययुगीन दुर्ग-रचना में भेद पाया जाता है ।

प्राचीन भारतीय रणनीति मुस्लिम रणनीति से भिन्न थी । सीमान्त पर विदेशी शासन होने के कारण तथा अफगानिस्तान से मोरक्को तक मुस्लिम धर्म हो जाने के कारण भारत का सम्पर्क विदेशों से छूट गया था । यही इतना ही नहीं बल्कि समुद्री व्यापार भी अरब नाविक व्यापारियों तथा लुटेरों के कारण बन्द हो गया । मुस्लिम देशों का सम्पर्क यूरोप तथा एशिया के अन्य देशों से था । वे समय के अनुसार चलते गये एवं भारतीय छंटते गये । यही कारण है कि मुसलमानों से भारतीय हारते गये। जब शिवाजी महाराज ने मुस्लिम रणनीति तथा राजनीति का अध्ययन कर मुसलमानों का सामना किया तो मुस्लिम साम्राज्य धराशायी हो गया किन्तु तृतीय पानीपत के युद्ध में मराठों ने अपना नीति छोड़कर प्राचीन नीति अपनायी, तो अहमदशाह अब्दाली से उन्हें हारना पड़ा । अंग्रेज आधुनिकतम हथियारों तथा रणनीति से परिचित थे । वे उनका उपयोग कर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों को पराजित करने में सफल हुए । अतएव कौटिल्य अर्थशास्त्र द्वारा वर्णित अनेक मान्यताएँ आज समाप्त हो चुकी हैं ।

उस समय लोग पुराने शब्दों को भूलकर राजकीय प्रश्रय प्राप्त शब्दों को जो अरबी ईरानी तथा अंग्रेजी भाषाओं पर आधारित थे चलाने लगे । भारत ने कौटिल्य तथा उसके अर्थशास्त्र को विस्मृत कर दिया । नये अस्त्र-शस्त्र तथा आग्नेयास्त्रों के कारण प्राचीन आयुध तथा उन आयुधों के नामों को भुलाने में देर न लगी ।

आचार्य कौटिल्य के समय में शब्दों का क्या रूप तथा अर्थ था? सम्प्रति

उसका निश्चय करने में कठिनता होती है। स्मृतियों तथा पुराणादि का जो संस्करण सम्प्रति प्राप्त होता है वह परवर्ती है। कौटिल्य के पूर्व यास्क का निर्मित निरुक्त प्रचलित था। निरुक्त, निघण्टु ग्रन्थ की व्याख्या है। यास्क का समय पाणिनि से प्राचीन है। उनका समय 800 से 500 ईसा पूर्व माना जाता है। आचार्य कौटिल्य को समझने के लिए मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अतिरिक्त पुराणों का ज्ञान आवश्यक है। स्मृतियाँ कौटिल्य के बाद की गुप्तकालीन रचनाएँ एवं संस्करण हैं, यही बात पुराणों के सम्बन्ध में भी कही जायेगी। पुराणों का जो संस्करण उपलब्ध है वह गुप्तकालीन संस्करण है, जब वर्णाश्रम धर्म ने बौद्धों के पश्चात् जोर पकड़ लिया था।

आचार्य कौटिल्य का कार्यक्षेत्र बौद्ध विचारों से अनुप्राणित एवं गर्भित दिखायी पड़ता है। बौद्ध दर्शन वेद एवं ब्राह्मण वर्ग का समर्थन नहीं करता है। कुछ स्थलों पर आचार्य चाणक्य, बौद्धों के निवृत्ति मार्ग के विरोधी दिखायी पड़ते हैं। वह अपने अर्थशास्त्र में दण्डनीति तथा वार्त्ता पर विशेष जोर दिये हैं। अर्थशास्त्र में त्रयी को मान्यता दी गयी है परन्तु वह अर्थ को सबका मूल मानते हैं। यही नहीं समाज तथा सम्पूर्ण राज्य की व्यवस्था अर्थ पर ही आधारित होती है। भारतीय विचारधारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को जीवन तथा समाज का मौलिक अंग मानती है। आचार्य चाणक्य ने धर्म, अर्थ, काम का विवेचन अपने अर्थशास्त्र में किया है। बिना अर्थ के समाज पङ्गु बन जाता है अर्थात् वह विकास नहीं कर सकता है। मोक्ष पर उन्होंने नगण्य प्रकाश डाला है। उनका विचार है कि मोक्ष इस लोक की अपेक्षा परलोक के विषय में अधिक चिन्तन एवं महत्त्व

रखता है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस लोक के लिए लिखा गया है । कौटिल्य की मान्यता है कि यदि समाज और राज्य नहीं रहेगा, तो मनुष्य का विकास असम्भव है । मनुष्य समाज की स्वयं देन है ।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अद्वितीय ग्रन्थ अर्थशास्त्र में परिव्राजक एवं निर्ग्रन्थवादियों की कटु आलोचना करके उन्हें पाषण्ड की संज्ञा से अभिहित किया है । पाषण्ड शब्द का अर्थशास्त्र में अत्यधिक प्रयोग हुआ है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र निवृत्ति-मार्ग का जो मनुष्यों को समाज से विरत कर निष्क्रिय बना देता है तथा उनमें वैराग्य §त्याग§ भावना जागृत कर देता है एवं दु:ख के कारण नैराश्य की उत्पत्ति करा देता है, का विरोध करता है ।

कौटिल्य ने ऋषियों मुनियों द्वारा प्रतिपादित एवं समर्थित वर्णाश्रम की मान्यता स्वीकारा है । वह उसे मानवोपयोगी बनाने पर बल दिया है । उन्होंने मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं माना है, वे धर्म दर्शन या धर्म विचार को मानव की अपनी वैयक्तिक प्रवृत्ति मानकर राज्य का एक अङ्ग, एक इकाई मानते हैं । वह मानव को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं । उनका विचार आजकल की धर्म निरपेक्षता अथवा लौकिक विचारधारा से मिलता जुलता है । वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों को समाज का अविभाज्य अङ्ग मानते हैं । शूद्रों को अनार्य तथा अस्पृश्य नहीं मानते हैं । यह कल्पना कौटिल्य ने नहीं की है, वह समाज एवं राजशास्त्र पर लिख रहे थे । समाज तथा राज्य का सर्वोपरि एवं सर्वोच्च आधार मानव होता है अतएव मानव-मानव में भेद की कल्पना कौटिल्य जैसे विद्वान् के सीमा के बाहर थी ।

कौटिल्य अपने ग्रन्थारम्भ में अपने पूर्ववर्ती दो महान् अर्थशास्त्र एवं नीति-शास्त्रकार शुक्र एवं बृहस्पति को नमस्कार किया है। वह उन्हें अलौकिक एवं मानवेतर व्यक्ति नहीं स्वीकार करते हैं। वे उनके लिए एक मनुष्य जैसे एक दूसरे मनुष्य से नमस्कार करता है, उसी प्रकार नमः शब्द का प्रयोग किये हैं। वे दोनों चाणक्य के पूर्ववर्ती अर्थशास्त्री एवं नीतिशास्त्री थे। आचार्य चाणक्य ने असुर गुरु शुक्राचार्य का नाम पहले लेकर स्वयं की उदारता का प्रतिबोधन किया है। सुरगुरु बृहस्पति का नाम बाद में अभिहित किया है। वह आस्तिक एवं नास्तिक को बराबर के स्तर पर रखे हैं। साथ ही साथ ॐ शब्द का प्रयोग करके, वैदिक परम्परा के प्रति अत्यादर की भावना प्रकट की है। कौटिल्य ने किसी दैवी शक्ति की आराधना अपने ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण एवं इति पाठ के रूप में नहीं किया है। यही नहीं परम्परा के अनुसार वह अपने किसी इष्ट देव का भी नाम नहीं लिए हैं। कौटिल्य के समय में त्रयी अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद की मान्यता थी किन्तु कौटिल्य ने यत्र-तत्र अथर्ववेद का भी उद्धरण दिया है। मुख्यतः उन स्थानों पर जहाँ तन्त्र, मन्त्र एवं अभिचार का वर्णन किया है। अगर हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो कौटिल्य का योगदान समाज की रचना एवं उसके समग्र विकास में विशेष महत्त्व रखता है।

जब हम अपने इस निष्कर्ष पर आते हैं कि किसी लेखक या रचनाकार को समझने समझाने के लिए उससे सम्बन्धित काल, स्थान एवं इतिहास का परिचय ज्ञान आवश्यक होता है। आचार्य कौटिल्य का काल 321 वर्ष ईसा पूर्व है। कौटिल्य के पूर्व भगवान् बुद्ध का समय है। कौटिल्य के समय में बुद्ध को अवतार

रूप में मान्यता नहीं मिला था । जब हम एक विहंगम दृष्टि निम्न ऐतिहासिक की तिथियों पर डालें तो कौटिल्य का समय अत्यधिक स्पष्ट हो जायेगा ।

महानन्द ने 371 वर्ष ईसा पूर्व नन्दवंश की स्थापना की थी । नन्द वंश ने मगध में 364-324 ई०पूर्व तक शासन किया था । 325 वर्ष ईसा पूर्व महापद्मनन्द राजा हुआ । वर्ष 326 ईसा पूर्व सिकन्दर अटक तक पहुँचकर, सिन्धु नदी पार किया था । इसी समय में तक्षशिला के राजा आम्भी से, जो अपने स्वार्थ के लिए भारतीय स्वतन्त्रता की भावना के विरुद्ध था सम्पर्क किया। मई-जुलाई के मध्य पोरस के साथ सिकन्दर का युद्ध हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्य ने 326-325 ईसा पूर्व सिकन्दर से भेंट किया । सितम्बर मास 325 ईसा पूर्व में समुद्र द्वारा सिकन्दर ने ईरान के लिए प्रस्थान किया । इसी समय चन्द्रगुप्त ने मगध का राज्य प्राप्त किया । मौर्य सम्वत् 324 ईसा पूर्व प्रारम्भ हुआ । ईसा पूर्व 324 से 300 वर्ष तक चन्द्रगुप्त ने मगध पर शासन किया । यही समय [काल] कौटिल्य का माना जा सकता है । 317 ईसा पूर्व में चन्द्रगुप्त ने पंजाब तथा 313 में मालवा को जीता । 305 वर्ष ईसा पूर्व सेल्यूकस नेकेटोर ने सिन्धु नदी पार कर सैनिक अभियान किया । चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सेल्यूकस में 304 ई० पूर्व सन्धि हुई । 299 ईसा पूर्व चन्द्रगुप्त ने राज्य एवं उत्तर भारत को त्याग कर दक्षिण भारत के मैसूर प्रान्त में मृत्यु पर्यन्त निवास किया । इस प्रकार चन्द्र-गुप्त मौर्य ने कौटिल्य की सहायता से भारतवर्ष का एकीकरण कर, साम्राज्य सुदृढ़ किया ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. गायन्ति देवाः किलगीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

2. तुङ्गध्वजो महाराजा स्वायम्भुवोऽभवत् किल ।
सर्वान्भागवतान् कृत्वा श्रीबैकुण्ठं तदागमत् ॥
- स्कन्द पुराण

3. स्वायम्भुव मनु अरु सतरूपा ।
जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥
- रामचरितमानस, बालकाण्ड

4. यस्तु तत्र पुमान् सो भूव मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।
स्त्री याऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ।
स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥
- श्रीमद्भागवत् तृतीय स्कन्ध, द्वादश अध्याय, 53/54.

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥
यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत् ॥
- वही, त्रयोदश अध्याय 2, 6.

5. मनुः स्वायम्भुवो नाम मनुः स्वारोचिषस्तथा ।
औत्तमिस्तामसिश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥
एते तु मनवोऽतीताः सप्तमस्तु रवेः सुतः ।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत्सप्तमं वर्तते युगम् ॥
सावर्णिः दक्षसावर्णो ब्रह्मसावर्ण इत्यपि ।
धर्मसावर्ण रुद्रस्तु सावर्णो रौच्य भौत्यवत् ॥

– विष्णु पुराण

-------::0::-------

प्रथमोऽध्याय:

दण्ड

दण्ड एवं न्याय का प्रबन्ध हमारे आर्यावर्त में अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है। आरम्भ से ही अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया जाता रहा है। भगवान् मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि ऋषियों, मुनियों ने अपने धर्म शास्त्रों में दण्ड का उल्लेख किया है। मनु ने अपनी मनुस्मृति में अपराधों को महापातक, अनुपातक एवं उपपातक आदि तीनों भागों में विभाजित कर कठोर दण्ड की व्यवस्था दी है। उस समय विधि के अभाव में राजा को ही विधि एवं न्याय का स्रोत समझा जाता था। राजा को ही विधि बनाने, उसे लागू करने एवं उसकी अवहेलना किये जाने पर दण्ड देने का पूरा अधिकार था। राजा की आज्ञा पालन करना सभी के लिए आवश्यक था। नारद ने तो यहाँ तक कहा है कि - "चाहे कुछ भी हो राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

फिर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें स्वार्थ की प्रवृत्ति निहित होती है। यह स्वार्थमयी प्रवृत्ति ही अनेक प्रकार के कलह एवं विवादों को जन्म देती है। यदि इस स्वार्थमयी प्रवृत्ति पर किसी तरह नियन्त्रण न किया गया तो समाज में अराजकता एवं कुव्यवस्था व्याप्त होने का भय बना रहता है। महान् दार्शनिक एवं विचारक हाब्स ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

प्रारम्भिक समाजों में अपराधी को दण्ड के द्वारा दुःख पहुँचाना ही प्रमुख प्रयोजन था। अतः उस समय मूलतः वैयक्तिक प्रतिशोध की भावना अत्यधिक क्रियाशील रहती थी। पीड़ित व्यक्ति चाहता था कि अपराधी को उसी प्रकार का कष्ट मिले जिस तरह का कष्ट उसे मिला है। इसमें प्रायः प्रकृति के

माध्यम पर अधिक विश्वास किया जाता था । आत्मरक्षा के नाम पर हत्या भी कर देना एक प्रकार का ही दण्ड था । प्रारम्भिक समाजों में आत्मगौरव की पूर्ति के लिए भी पीड़ित, अपराधी को भी समान क्षतिपूर्ति या पीड़ा की अपेक्षा करता । इसी स्थिति में -

"जीवन के बदले जीवन, हाथ के बदले हाथ, पाँव के बदले पाँव, आँख के बदले आँख, एवं दाँत के बदले दाँत" का सिद्धान्त चरितार्थ होता हुआ दिखायी देता है । इस क्रिया में वही अस्त्र और प्रक्रिया ग्रहण की जाती, जो अपराधी पीड़ित के साथ ग्रहण करता था । प्रतिफल की इस स्थिति में पीड़ा का उचित मूल्यांकन किया जाता था । हत्या, चोरी तथा अन्य वैयक्तिक अपराधों में शारीरिक दण्ड की व्यवस्था रहती थी । छोटे छोटे अपराधों में भी मृत्युदण्ड की सम्भावना की जा सकती है । दैवी अपराधों में व्यक्ति को बड़े ही दुर्दशापूर्ण ढंग से दण्ड दिया जाता । कहीं कहीं तो जलाने आदि के साथ अपराधी को लोग खा भी जाते थे । अफ्रीका में ऐसी स्थिति आदिम जातियों में अधिक थी ।

प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों में दण्ड की अवधारणा का अपना एक विशिष्ट स्थान है । दण्ड का मानव स्वभाव से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि उसके अपराधी स्वभाव के कारण ही दण्ड की आवश्यकता पड़ी । इसलिए प्रारम्भिक समाजों में समाज या उसके प्रतिनिधियों द्वारा न्याय, प्रतिरोध की भावना पर आधारित रहता है । दण्ड सामाजिक संरक्षण की दृष्टि से अधिक अंश में बदला के आस-पास ही रहता है । अपराधी कष्ट, प्रायश्चित या उस

समय का समाज जो कुछ प्रस्तुत करता है उसके लिए सदा तैयार रहता है ।

व्यक्तिगत प्रतिशोध एवं सामाजिक न्याय उस काल में अधिक समान रहते हैं । सामाजिक न्याय अपेक्षाकृत अधिक निष्पक्ष रहता है किन्तु अपराधी व्यक्ति स्वयं ही नहीं अपितु निर्णायकों से तिरस्कृत किया जाता है । सामाजिक न्याय आरम्भ में सीमित रहता है किन्तु साथ ही साथ वैयक्तिक या सामाजिक प्रतिशोध की अपेक्षा भी करता है । इसे न्याय भी कहा जाता है क्योंकि समाज के द्वारा इसके कार्य रूप में परिणित करने का स्वत्व स्वीकार कर लिया जाता है । समाज द्वारा स्वीकृत होने पर न्याय का एक विशेष रूप बन जाता है । सामाजिक न्याय में अपराधी को पीड़ित के सम्बन्धियों के हाथों सुपुर्द कर दिया जाता है । इस अवस्था में अपराधी के अपराध एवं उसके निर्णय के कार्यान्वियन भी पीड़ित के परिवार के हाथ में छोड़ दिये जाते हैं । सभ्यता के विकास के साथ कुटुम्ब, ग्राम या समूह के प्रधानों का उदय होता है । उस काल में यह व्यवस्था प्रधानों के माध्यम से पूर्ण की जाती है । प्रारम्भिक समाजों में कौटुम्बिक सम्बन्धों के साथ यह व्यवस्था और सरलता से पूर्ण की जाती है । जिस व्यवहार से एक व्यक्ति पीड़ित होता है वह दूसरे को भी पीडित कर सकता है ।

इस स्थिति में व्यक्ति आत्मरक्षा हेतु जिस परम्परा की नींव डालता है, उससे सदाचार एवं विधि का बीजारोपण होता है । उनके उल्लंघन को ही अपराध कहा जाता है । प्रारम्भिक समाजों के सत्यासत्य के निर्णय का अभिव्यक्तीकरण सदाचार है । इसी के आधार पर कार्यों का औचित्य देखा जाता

है । यद्यपि इनमें कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनका सम्बन्ध आचार से नहीं होता है । इस तरह सामाजिक प्रतिशोध एवं सामाजिक न्याय नैतिक धारणा से अभि-व्यक्त होते हैं । सामाजिक न्याय में नैतिकता का अधिक सम्बन्ध रहता है क्योंकि इसका सम्बन्ध अधिकतम व्यक्तियों से रहता है । दण्ड का भी सम्बन्ध इस स्तर पर नैतिकता से सम्बन्धित रहता है । प्रारम्भिक समाजों के द्वितीय चरण में विकसित समाज के समय दण्ड अधिक कठोर हो जाता है । इसके पहले उसका अनुपात अपराध के साथ रहता है । अपराध रोकने में प्रतिशोध की प्रवृत्ति से जो वैयक्तिक सम्बन्ध होता है उससे प्रधानों की प्रभुता का उदय होता है । इससे केन्द्रीयतावादी स्थिति का विकास होता है । प्रधानों के माध्यम से प्रयुक्त दण्ड-व्यवस्था ने व्यक्तिगत प्रतिशोध से होने वाले रक्तपात में भी कमी की । कहीं-कहीं तो व्यक्ति ने स्वयं प्रतिफल पाने के अपने अधिकार प्रधानों को समर्पित कर दिया । उसके द्वारा केवल परामर्श का कार्य न होकर निर्णय का भी कार्य होने लगा । ऐसी भी स्थिति आती है कि यदि व्यक्ति प्रतिशोध में निर्बल होता तो प्रधानों से उसे सहायता भी मिलती । सहानुभूति के कारण उसे समाज के अन्य लोगों से भी सहायता मिल जाती । इस प्रकार दण्ड का प्रयोग व्यक्ति से हटाकर प्रधानों की ओर अग्रसर होता गया । अन्त में दण्ड का संचालन केन्द्रीय व्यक्ति विशेष के माध्यम से होता हुआ राजतन्त्र को जन्म देता है ।

प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिशोध और बदले की स्थिति से दण्ड के उदय पर प्रकाश कम पड़ता है । यहाँ तक कि वैदिक काल के साथ जिस व्यवस्था

का सम्बन्ध है उसमें प्रधानों का विशेषता के आधार पर सामाजिक संस्थाओं के विकास का रूप प्राप्त होता है। उनकी सार्वभौमिकता पर किसी व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व नहीं रहता एवं न तो उसका संचालन किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से होता है। उन संस्थाओं ने केवल प्रतिफल की ही योजना नहीं की अपितु उनके कार्य अपराध दण्ड की उचित व्यवस्था करना था। इस समय से दण्ड एवं उसकी प्रक्रिया भी सामने आ जाती है। दण्ड का दार्शनिक एवं सामाजिक रूप व्यवस्थित होता है। इस स्थिति के स्पष्टीकरण हेतु आवश्यक है कि दण्ड की सर्वाङ्गीण मीमांसा [व्याख्या] की जाय।

वेदों में दण्ड शब्द आया है, लेकिन उसका स्पष्ट रूप न्यायिक प्रशासन के रूप में व्यक्त नहीं होता है। इस रूप में दण्ड शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है।[1] सूत्र काल में दण्ड के विभिन्न अंगों का विकास हुआ। विधि एवं राज्य के समान ही दण्ड का भी उद्देश्य समाज की 'यथास्थिति की सुरक्षा सूत्रकारों को इष्ट थी। अतएव दण्ड के साथ देश जाति और कुल के आचार का सम्बन्ध लगा दिया गया। दण्ड के समय देश, काल, वय, विद्या के साथ व्यक्ति की चित्त स्थिति पर भी ध्यान दिया गया।[2]

इस प्रकार के नियम सभी सूत्रकारों को मान्य रहे हैं। गौतम के अनुसार दण्ड शब्द [दम [दमयति] से बना है। वह निरोधक है। नियंत्रक होने से राजा को भी दण्ड कहा गया है।[3] लेकिन सूत्रकार दण्ड और राजा दोनों को विधि के नियन्त्रण में मानते हैं। राजा द्वारा विधि के उल्लंघन पर वह स्वयं दण्ड का भागी होता है।[4] सूत्रकार नहीं मानते कि शक्ति बिना न्याय

निष्क्रिय है । तथापि उन्होंने मनुष्य स्वभाव को पवित्र माना और यह भी स्वीकार किया कि भय से ही अधिकार एवं कर्त्तव्य की सुरक्षा हो सकता है । फलत: उन्होंने नियम एवं व्यवस्था की सुरक्षा के लिए विधि की व्यवस्था में शक्ति को स्वीकार किया ।

दण्डोत्पत्ति दैवी है । अतएव वह स्वयं दैवीगुणों से युक्त है । दण्ड व्यक्ति को पवित्र करता है । वह दण्ड पाशविक प्रतीकार की शक्ति को सन्तुष्ट नहीं करता, न तो केवल भावी अपराधियों को चुनौती देता है । और न अपराधी को ठीक करता अपितु स्वयं अपराधी के कल्याण के लिए दण्ड आवश्यक है । सम्पूर्ण विश्व में पीडित भी अपना अस्तित्व सुरक्षित एवं अपनी उपयोगिता प्राप्त कर सके । इस प्रकार की व्यवस्था उत्पन्न करना ही दण्ड का उद्देश्य है । इस प्रकार वह अपना निजी नैतिक मूल्य रखता है । प्रारम्भिक समाज के प्रतीकारात्मक पक्ष का भी बीज सूत्रकारों की विचारधारा में पाया जाता है । विधि की दृढता के हेतु सूत्रकार प्रताडन भी स्वीकार करते हैं किन्तु वे इसे सार्वभौम रूप नहीं देते हैं क्योंकि व्यक्ति जब विधि की सीमा का उल्लंघन क्षुद्र रूप में करता है, तभी प्रतारण आवश्यक होता है ।

अब हम जब वैदिक समाज को देखते हैं, तब उसकी अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ देखने को मिलती है । इसकी मुख्य विशेषता यह है कि स्वयं संचालित था । शासन की जगह व्यवस्था का महत्त्व था एवं उसका संचालन समाज स्वयं करता था । व्यवस्था नीचे से ऊपर की ओर विकसित होकर कुछ अंशों में

प्रशासनिक हो जाती थी । समाज वर्गों में विभक्त नहीं था । बाह्य शत्रुओं एवं संघ बद्ध से भय था । उसके साथ सम्बन्ध की भी समस्या थी । यह स्थिति किसी रूप में सूत्रकाल तक अनवरत गतिशील होती रही । यद्यपि ब्राह्मण काल के बाद इसमें परिवर्तन आने लगे । इस समय शासन का प्रधान राजा था एवं इसके साथ ही न्याय का भी प्रधान राजा ही होने लगा । अब समाज का प्रशासन ऊर्ध्वमुखी न होकर अधोमुखी होने लगा । समाज में दस्यु, दास शूद्र, किरात, कोल, पुलिन्द तथा विभिन्न प्रकार की अवैदिक जातियों का सम्बन्ध हो गया । उनसे वैदिक समाज की सुरक्षा का प्रश्न आया । मनु के समय तक उपनिवेशों से सम्बन्ध हो जाने से राजशक्ति के विस्तार एवं प्रशासन में कुछ कठोरता आ गयी । बौद्ध क्रान्ति से उत्पन्न दशा पर नियन्त्रण करने एवं सामाजिक व्यक्तियों को विशिष्ट नियम में बाँधने के लिए शक्ति का अन्तिम रूप सामने आया । धर्म नीति, सदाचार, सम्पत्ति, जीवन आदि की रक्षा अब एक मात्र दण्ड से ही सम्भव हो गयी थी । इस समय समाज एवं व्यक्ति में स्वयं संचालन की शक्ति नहीं रही । इस पृष्ठभूमि में सूत्रों के उत्तरवर्त्ती काल के स्वरूप आदि के विवरण से मूल तथ्य का स्पष्टीकरण होता है । वेदों की मूल धारणा की सुरक्षा एवं व्यवहार का सभी शास्त्रकारों ने प्रयास किया, यही उनके द्वारा 'यथास्थिति' की रक्षा का प्रयास है ।

अब हम सर्वप्रथम सूत्रों से निकटतम सम्बन्ध महाभारत का होने से दण्ड विषयक कुछ अंश उद्धृत करते हैं । महाभारत में दण्ड का सार्वभौम रूप प्रस्तुत किया गया है । महाभारत के अनुसार - दण्ड प्रजा पर शासन करता और

उसकी रक्षा करता है । विश्व सोता है तो वह दण्ड जागता है अतएव विद्वान् उसे धर्म, अर्थ और काम की रक्षा करता है अतएव दण्ड ही त्रिवर्ग है ।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक समाज से विकसित होने वाला परम्परा में परिवर्तन होने लगता है । महाभारत के अनुसार मनुष्य जो कुछ नियम पालन करता है, वह मात्र दण्ड के भय से ही करता है । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं भिक्षुक भी मूलत: पवित्र नहीं माने जाते हैं ।[6] महाभारत में इसी प्रकार अर्जुन भी अपने विचारों को व्यक्त करते हैं कि सम्पूर्ण विश्व दण्ड के भय से विवश होकर अपने कर्त्तव्य पालन में लगता है, क्योंकि सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है । दण्ड के भय से ही मनुष्य मर्यादा के पालन में प्रवृत्त होता है । यह भय राजदण्डमूलक हो या यमदण्डपरक लेकिन दण्डभय से ही पाप न करने में प्रवृत्ति होती है ।[7] मनुष्य का स्वभाव भयमूलक है । दण्ड स्वयं विष्णु, नारायण और महापुरुष है । जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है, अंकुश हाथी को वश में रखता है, वैसे ही दण्ड दुष्टों को सन्मार्ग पर ले आता है ।[8] दण्ड द्वारा ही राजा पृथ्वी पर शासन करता है और प्रजा सुख का भोग करती है ।[9]

महाभारत में देवव्रत भीष्म कहते हैं कि सतयुग में न राज्य था और न राजा ही था, न दण्ड था और न ही दण्ड देने वाला ही था । प्रजा परस्पर धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी ।[10]

इस प्रकार महाभारत के दण्ड-सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है कि

समाज की स्थिति बदल चुकी थी । विधि, राज्य, दण्ड एवं राजा को सामाजिक शक्तियों से बद्ध रहने के स्थान पर जब दण्ड शक्ति का विस्तार हो गया था । वह इस रूप में हुआ कि त्रिवर्ग भी उसी से संचालित होने लगा । राजा ही काल का कारण माना गया ।[11]

इस प्रकार दण्ड-शक्ति के विकास के साथ मानव-स्वभाव को भी बुरा एवं भयपूर्ण मान लिया गया । अन्यत्र भीष्म के अनुसार वैदिक परम्परानुसार मानव-स्वभाव को मूलत: पवित्र और सात्विक माना और अर्जुन ने भयपूर्ण । इसमें उन्होंने युधिष्ठिर को प्रभावित करना चाहा किन्तु उनमें युग की वाणी प्रतिध्वनित हुई है । भीष्म उपदेष्टा के रूप में वैदिक धारणा के साथ अपने समय की मान्यता का समन्वय करते हैं ।[12]

नीत्शे के अनुसार दण्ड के भय से ही व्यक्ति अपनी सीमा में सीमित रहता है तथा अन्य व्यक्ति अपने अपने भोगों को भोगने में समर्थ होते हैं ।[13]

नारद का भी कथन है कि प्रारम्भ में मनुष्य सत्यवादी एवं कर्त्तव्य-निष्ठ थे, उनमें परस्पर द्वेष और मत्सर नहीं था । अत: व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं थी ।[14]

परन्तु यह आदर्श स्थिति अधिक समय तक स्थायी न रही, क्योंकि आदियुग में सत्त्व की प्रधानता थी किन्तु समय के साथ रज एव तम के प्रभाव से मनुष्य में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, लोभ, हिंसा तथा क्रोधादि दुष्प्रवृत्तियों की प्रधानता हो गयी । सांख्य-दर्शन भी प्रकृति को त्रिगुणात्मिका मानता है । ये

तीनों गुण - सत्त्व, रजस् तथा तमस् हैं । इनमें सत्त्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक एवं तमोगुण मोहात्मक है ।[15]

महाभारत में आदर्शयुग से पतन का कारण मानव-स्वभाव में हो रहा क्रमिक परिवर्तन बताया गया है । भीष्म कहते हैं कि सब लोग परस्पर धर्म के द्वारा पालित-पोषित होते थे । कुछ दिनों के बाद सभी लोग पारस्परिक संरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे, फिर उन पर मोह छा गया । मोह के वशीभूत होने से उनका कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान तिरोहित हो गया । इस कारण उनका धर्म विलुप्त हो गया । ऐसी स्थिति में वे लोभ के अधीन हो गये, फिर ऐसी स्थिति में जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे । इसी समय काम नामक एक दूसरे दोष ने भी उन्हें घेर लिया। काम के अधीन हुए मनुष्यों पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण कर दिया । राग के वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है ।[16] धर्म से रहित होने पर लोग त्रस्त होकर ब्रह्मा की शरण में गये । ब्रह्मा ने सहस्र अध्याय में उनके धर्म, अर्थ और काम के लिए विधान किया है ।[17]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार कृतयुग में लोग धर्मप्रधान थे । धीरे-धीरे उनके गुणों का ह्रास होने लगा । उनमें ईर्ष्या, द्वेष, कलह, हिंसादि दुर्गुण जन्म लेने लगे । इसी अव्यवस्था को दूर करने के लिए व्यवहार (दण्ड) का जन्म हुआ ।[18]

महाभारत में एक अन्य स्थल पर पराशर मुनि ने कहा है कि पुराणों

से सुना जाता है कि पहले अधिकांश मनुष्य संयमी एवं धार्मिक होते थे, किन्तु शनैः शनैः प्रजा का धर्म नष्ट होता गया, जिसका कारण क्रमशः दर्प, क्रोध और मोह था, जिसके फलस्वरूप वे एक दूसरे का विनाश करके अपने अपने सुखों की चेष्टा करने लगे ।[19]

श्रीमद्भागवत् पुराण के अनुसार दण्ड को पाप का नाशक माना गया है ।[20] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार पापी मनुष्य दण्ड से शुद्ध होता है । कतिपय पापी राजदण्डभय से, कुछ लोग यमदण्डभय से ही शुद्ध होते हैं ।[21]

पद्मपुराण में दण्ड-विषयक एक कथा आती है कि एक गृद्ध ने किसी उलूक का घर ले लिया था । उलूक ने राजा के पास जाकर निवेदन किया - आप राजा हैं । प्रजा को उनके दोष के लिए दण्ड देकर, उनके पाप और भय को निवारण करने वाले हैं । अतएव गृद्ध को आप दण्डित कीजिए ।[22]

मत्स्य पुराण के अनुसार कुछ पापी राजदण्ड के भय से, कुछ यमदण्ड के भय से और कुछ परस्पर एक दूसरे के भय से पाप नहीं करते हैं ।[23] अग्निपुराण के अनुसार दण्ड की व्यवस्था न होती तो देव, दैत्य, नाग, मनुष्य, गृद्ध, भूत और पक्षी आदि अपनी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर दिये होते ।[24]

स्कन्दपुराण के अनुसार परस्त्रीगामी एवं नश्वर वृत्ति वाले लोग दण्ड भय से ही मर्यादा का पालन करते हैं ।[25]

श्रीमद्भागवत् पुराण के अनुसार मदोन्मत्त असत्य पुरुष कभी शान्ति नहीं चाहते । वे दण्ड से ही शान्त रहते हैं, जैसे पशु ।[26]

पद्मपुराण के अनुसार दण्ड प्राणियों की रक्षा करता है । पालन करता है । अमोघ दण्ड ही पापियों को पाप कर्म से रोकता है ।[27]

मत्स्यपुराण के अनुसार दण्ड शासन करता है । रक्षा करता है । सुप्त अवस्था में भी दण्ड जागता रहता है । अतएव दण्ड ही धर्म है ।[28] जहाँ श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक, दण्ड विचरण करता है, वहाँ दण्डभय से कोई अनुचित कार्य नहीं करता । भयंकर दण्ड ही मनुष्यों का शासक है । इसी में धर्म स्थित है ।[29]

दण्ड, धर्म की कृया नामक पत्नी का पुत्र है ।[30] मर्यादा स्थापन के लिये त्रेतायुग में दण्डनीति प्रवर्तित हुई थी ।[31] ब्रह्मा ने राजा की उत्पत्ति दण्ड के लिए किया था ।[32]

पद्मपुराण के अनुसार रामराज्य में परशु, कुदाल, चँवर, आतपत्र (छाता) में ही दण्ड होता था । अपराध आदि जन्य (राज) दण्ड का प्रयोग नहीं होता था ।[33]

अब हम इस प्रकार देखते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों के साथ दण्ड-सिद्धान्त में दम पक्ष का विकास होता हुआ दिखायी पड़ता है । दण्ड व्यक्ति, समाज एवं राज्य के सम्बन्ध निर्धारण पर प्रभाव डाला । दण्ड के दम रूप को कृष्ण ने अपना रूप बताया ।

कामन्दक के अनुसार लोक के साथ परलोक के लिए दण्ड आवश्यक है ।

यथावत् दण्ड के प्रयोग से ही त्रिवर्ग की स्थापना और वृद्धि हो सकती है । यह लोक (संसार) काम, क्रोध, लोभादि कार्यों से परिप्लुत है । दण्ड से ही उचित मार्ग पर ले जाया जा सकता है । कृश, विकल, व्याधित को भी कुलनारी पति रूप में दण्ड के भय से ही स्वीकार करती है । इस प्रकार दण्ड प्रजापति के समान स्वयं प्रजा को धारण करता है । कामन्दक ने दण्ड विवेचन में अपने गुरू मनु एवं कौटिल्य दोनों का समुचित समन्वय किया है । धर्म ही दूसरे रूप में दण्ड बन जाता है । दुर्वृत्त का शासन धर्म के दण्ड रूप से करने के लिए ब्रह्मा ने उसे उत्पन्न किया है ।[34] नारद एवं याज्ञवल्क्य आदि अन्य स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है ।[35]

दीघनिकाय का विवेचन भी बहुत कुछ अंशों में महाभारत के समकालीन एवं समकक्ष है । इसके अनुसार बहुत पहले स्वर्णयुग था, जिसमें दिव्य और प्रकाशमान् शरीर वाले मनुष्य धर्म से आनन्दपूर्वक रहते थे । धीरे-धीरे इस आदर्श समाज का पतन होने लगा । चोरियाँ होने लगीं और चारों ओर अव्यवस्था छा गयी ।[36]

ऐसी स्थिति में समाज में शक्तिशाली लोग निर्बलों का उसी प्रकार हनन करने लगे, जिस प्रकार बड़ी मछली, छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है । मनुष्य न केवल अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो गये, प्रत्युत् वे ऐसे भी कार्य करने लगे जो उन्हें नहीं करने चाहिए । वे इसके लिए दूसरे के अधिकारों का भी हनन करने लगे । समाज में चारों ओर कुव्यवस्था व्याप्त हो गयी । वर्णाश्रम

व्यवस्था भी संकट में पड़ गयी। युगों के साथ मानवमूल्यों की गिरावट के फल-स्वरूप व्यक्तियों में कर्त्तव्य पालन की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी समाप्त हो गयी। इस प्रकार मानव स्वभाव के विकृत हो जाने के कारण ही दण्ड की आवश्यकता अत्यधिक तीव्रता के साथ अनुभव की जाने लगी एवं शीघ्र ही मात्स्य-न्याय का अन्त करने के लिए दण्ड की उत्पत्ति हुई, जिससे समाज में शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित की जा सके। दण्ड के द्वारा राजा को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त हुई कि वह मनुष्य को स्वधर्म पालन हेतु विवश कर सके।

याज्ञवल्क्य के अनुसार आदिकाल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में धर्म की ही सृष्टि की है।[37] महाभारत में भी दण्ड की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा - ब्रह्मा ने लोकरक्षा तथा स्वधर्म की स्थापना के निमित्त जिस धर्म का प्रदर्शन किया था, वह दण्ड ही है। राजाओं के लिए उससे बढ़कर परम-पूजनीय दूसरा धर्म नहीं है।[38]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्रत्येक जीव दण्ड के भय से ही अपने अपने कार्यों को पूर्णरूपेण सम्पादित करता है। भगवान् मनु ने तो दण्ड को विधि की प्रमुख विशेषता ही नहीं माना अपितु दोनों को एक कर दिया। मनु का दण्ड सामाजिक परिवर्तन से अधिक प्रभावित है। उनके अनुसार पहले इस संसार को बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से (प्रजाओं के इधर-उधर भागने पर) सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।[39]

भगवान् मनु ने तो यहाँ तक कहा कि पवित्र व्यक्ति सर्वथा दुर्लभ है।

घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, कलह इत्यादि प्रवृत्तियों से मनुष्यों में स्वार्थ और संघर्ष की उत्पत्ति हुई। मात्स्य न्याय से धर्म की मर्यादा नष्ट होने लगी। धर्म संस्थापना और प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ब्रह्मतेजोमय दण्ड की ब्रह्मा ने सृष्टि ॥उत्पत्ति॥ की जिसके कारण उस दण्ड के भय से सब चराचर जीव आपस में सुखी रहते हैं एवं अपने अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं। राजा देश, काल, दण्ड, शक्ति एवं अपराध के अनुसार दण्ड आदि के शास्त्रीय ज्ञान का तत्त्वपूर्वक विचार करके अपराधियों के लिए यथायोग्य दण्ड निश्चित करता है। यथार्थ में वही दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता और शासक होता है तथा वही दण्ड ही चारों आश्रमों का प्रतिभू ॥जामिन॥ कहा जाता है। दण्ड सभी के सोजाने पर जागता रहता है। अतएव विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं। विचारपूर्वक, सुसमीक्ष्य प्रदत्त दण्ड सब प्रजाओं को प्रसन्नता प्रदान करने वाला होता है किन्तु अविचारयुक्त, असमीक्ष्य दण्ड सब प्रकार नाश का हेतु बन जाता है। यदि आलस्य को त्यागकर राजा दण्डनीय को दण्ड न दे तो बलवान व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों में काटे में पकडी गयी मछलियों के समान भूनकर खा जाय। दण्ड न देने से कौआ भी यज्ञ का पुरोडाश खा जाय और श्वान ॥कुत्ता॥ हवि का भक्षण कर जाय। किसी का कुछ अधिकार ही न रहे और नीच व्यक्ति महान् बन जाय। यह सम्पूर्ण चराचर विश्वदिण्ड के अधीन है। वर्ण धर्म का पालन भी दण्ड के कारण ही है। शुद्ध सज्जन तो हमेशा दुर्लभ ही हैं। दण्ड के भय से ही विश्व के सब जीव अपना अपना आवश्यक भोग भोगते हैं। सभी सन्मार्ग पर आने लिए दण्ड की ही अपेक्षा करते हैं। दण्ड का सम्बन्ध तो मानवेतर देव, दानव,

गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और नाग सभी से है । यह सब भी दण्ड के भय से ही त्रस्त होकर अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं । दण्ड के उचित प्रयोग न होने से सभी वर्ण दूषित हो जायँ एवं धर्म के सभी बन्धन टूट जायँ तथा सबमें विद्रोह उत्पन्न हो जाय । जहाँ पापनाशक, श्यामवर्ण एवं लोहित आँखों वाला दण्ड गतिशील है तथा उसी दण्ड का विधान [सदुपयोग] करने वाला राजा यदि न्याय पूर्वक विधान करे तो प्रजा दुखित नहीं होती है क्योंकि मनीषियों ने राजा को दण्ड का जानने वाला कहा है ।[40]

इस प्रकार भगवान् मनु द्वारा प्रस्तुत दण्ड की शक्ति, व्यक्ति, समाज एवं सभी से ऊपर है । वह धर्म का भी संरक्षक बन जाता है किन्तु वह दण्ड-विधि से परे नहीं होता है अतएव दण्ड प्रयोक्ता में विधि की सम्प्रभुता स्वीकार करना और आत्म-नियन्त्रण दोनों आवश्यक है । भगवान् मनु दण्ड को सामाजिक स्थिति के साथ भी सम्बद्ध करते हैं ।

आचार्य कौटिल्य ने भी मात्स्य न्याय से जीवों की मुक्ति के लिए दण्ड की आवश्यक आवश्यकता बतलायी है । दण्ड के बिना लोक में अराजकता फैल जाया करती है । आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता तीनों विद्याओं के योग क्षेम का एकमात्र साधन दण्ड ही है । उस दण्ड का सम्यक् एवं समुचित प्रतिपादन करने वाली नीति दण्डनीति है । यह दण्ड अप्राप्त को प्राप्त कराने वाला, प्राप्त का संरक्षण, रक्षित का संवर्धन तथा संवर्धित का उपयुक्त पात्र में प्रतिपादन कराने वाला है । इसलिए दण्ड के ऊपर ही लोकयात्रा अर्थात् सम्पूर्ण जीवन का

निर्वाह निर्भर करता है । अतएव लोकयात्रा समुचित रखने के लिए इच्छुक(राजा)
सदैव उद्यत दण्ड रहे । दण्ड के समान प्राणियों को वश में रखने वाला अन्य
कोई उपाय नहीं है । ऐसा ही अन्य मान्य आचार्य मानते हैं किन्तु आचार्य
कौटिल्य इसे नहीं मानते हैं । उनका मानना है कि यथार्थ (यथोचित)दण्ड
विधायी राजा ही समाज एवं लोक में पूजित एवं सम्मानित होता है । यही
इतना ही नहीं, सम्यक् ज्ञान पूर्वक प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से
युक्त करता है । काम क्रोधवश अथवा अज्ञानता के कारण दुष्प्रयुक्त दण्ड वान-
प्रस्थियों एवं परिव्राजकों (संन्यासियों) को भी उद्वेलित (क्रोधित) कर देता है,
तो गृहस्थों के विषय में कहना ही क्या ? अप्रयुक्त दण्ड लोक में मात्स्य-न्याय
उत्पन्न करता है । दण्ड-विधान-कर्त्ता राजा के अभाव में बलवान-निर्बल को
अपना ग्रास बना लेता है । इसीलिए समुचित दण्ड से रक्षित राजा (दण्डधर)
प्रभावशाली होता है । दण्डशील राजा द्वारा पालित चारों वर्णों (ब्राह्मण,
क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) एवं आश्रमों से युक्त यह सम्पूर्ण विश्व अपने अपने धर्म-कर्म में
रहकर, अपने अपने मार्ग पर प्रवृत्त होता है । अतएव तीनों (आन्वीक्षिकी, त्रयी
एवं वार्त्ता) विद्याओं का मूल दण्ड ही है ।[41]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों विद्याओं का मूल दण्डहै । यदि
दण्ड न हो तो समाज में अनुशासन, देश में शान्ति, व्यवस्था एवं मनुष्यों की
दुष्ट बुद्धि पर अंकुश नहीं रहेगा । विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन तथा उपभोग,
शान्त, स्वस्थ एवं व्यवस्थित समाज में रहता है । आततायी, दुष्ट-प्रकृति,
चोर डाकू एवं अराजक तत्त्वों का समाधान दण्ड से ही होता है । दण्ड के

भय से प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वधर्म पर रहता, दूसरों को भी स्वधर्म पालन करने का मार्ग प्रशस्त करता है । अराजक राज में विद्या एवं देश का विकास अथवा उस देश की उन्नति नहीं हो सकती है । दण्ड अराजक तत्त्वों को यथास्थान पर रखता है एवं जनता के लिए ऐसा वातावरण उपस्थित करता है, जिसमें सब स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अपने कर्मों एवं कर्त्तव्यों में रत होते हुए, अन्य दूसरों को भी कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं ।

इस प्रकार भगवान् मनु एवं आचार्य कौटिल्य दोनों ही दण्ड के प्रबल समर्थक हैं । दोनों विचारक यथोचित, सम्यक्, अर्ह, सुप्रयुक्त एवं सुविचारित दण्ड देने पर ही बल देते हैं । सुप्रयुक्त दण्ड से ही सभी चराचर जीव अपने अपने कर्मों को सम्यक्रूपेण प्रतिपादित करने में समर्थ होते हैं । दोनों विचारकों के मत से अप्रयुक्त दण्ड समाज में मात्स्य न्याय उत्पन्न करता है । अतएव यथार्थ दण्ड ही दोनों आचार्यों द्वारा मान्य है । दोनों विचारक एक दूसरे के ही पक्ष का समर्थन करते हैं । दण्ड से ही वर्णों एवं विधि-विधान आदि की रक्षा सम्भव है। राजा समाज की यथास्थिति में हस्तक्षेप करने पर दण्ड का भागी हो जाता है । इस प्रकार दण्ड सामाजिक सम्बन्धों, साम्पत्तिक अधिकारों और परम्पराओं का पालक हो सका । साथ ही इसके प्रतिपादक शास्त्रों का भी वह (दण्ड) संरक्षक था । मनु अपने समय की वर्गीय समाज व्यवस्था, वर्गीय शक्ति एवं उसके अभि-भावक शास्त्रों की सर्वविध रक्षा करना चाहते हैं । अतएव उनकी रक्षा में ही दण्ड शक्ति का प्रयोग आवश्यक माना । उनकी इस व्यवस्था से व्यक्ति समाज एवं राज्य अपरिवर्तनीय शासन-विधान के अनुयायी मात्र रह गये । यहाँ इसमें शंका उत्पन्न करना भी दण्ड्य हो गया ।

दण्ड शब्द की व्याख्या :

संस्कृत साहित्य में 'दण्ड' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। यथा - यष्टिका, डण्डा, गदा, मुद्गर, सोंटा इत्यादि।[42]

महाभारत, याज्ञवल्क्य स्मृति एवं मत्स्य पुराण में दण्ड का एक अर्थ सेना (बल) भी था जिसे राज्य के सात अंगों अथवा प्रकृति में से एक बताया गया है।[43]

सामान्यतया दण्ड किसी अवैध कृत्य का वैध परिणाम है। इसके अतिरिक्त राजा शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अथवा आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था स्थापनार्थ चार उपायों (साम, दान, भेद और दण्ड) का प्रयोग करते थे।[44] मिताक्षरा में राजाओं के अतिरिक्त अन्य लोगों के लिए इन चारों उपायों (साम, दान, भेद और दण्ड) का महत्त्व बताया गया है।[45]

मनुस्मृतिकार भगवान् मनु ने भी दण्ड का एक अर्थ सेना (बल) भी बताया है। यथा राजा, अमात्य, नगर, देश, कोश, सेना(दण्ड) और मित्र ये सातों ही राज्य के अंग होते हैं।[46]

आचार्य कौटिल्य ने भी दण्ड का एक अर्थ सेना (बल) कहा है। यथा- स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड, मित्र ये सप्त प्रकृतियाँ हैं।[47] दण्ड का प्रयोग अन्य तीनों उपायों (साम, दान, भेद) के निष्फल हो जाने पर किया जाना चाहिए।[48]

मनुस्मृतिकार भी साम एवं दण्ड की ही प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि

सामादि (साम, दान, भेद और दण्ड) उपायों में विद्वजन राष्ट्र की अभिवृद्धि के निमित्त साम और दण्ड की ही प्रशंसा करते हैं ।[49]

पाश्चात्य विद्वान् काणे का कथन है कि दण्ड का अर्थ है अपने देश में अपराधी को फाँसी देना, शारीरिक दण्ड देना अथवा अर्थदण्ड देना तथा शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रु-देश का नाश करना, धन-धान्य, पशु, दुर्ग आदि पर अधिकार करना, ग्राम-जंगलों को जलाना तथा लोगों को बन्दी बनाना आदि ।[50]

निरुक्त के अनुसार दण्ड शब्द की व्युत्पत्ति 'दद्' धातु से हुई है । यथा - धारण करने के अर्थ में 'दद्' धातु से दण्ड बनता है । दण्ड ही सारी प्रजाओं को धारण करता है । दण्ड से ही सारे विश्व की व्यवस्था स्थिर है।[51]

निरुक्त के ही अनुसार इसकी (दण्ड शब्द की) एक व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है । दमन करने के कारण 'दम्' धातु से दण्ड की उत्पत्ति उप-मन्यु के पुत्र मानते हैं । उनका कहना है कि दमन करने के कारण दण्ड कहलाता है ।[52]

इस प्रकार इस परिभाषा से दण्ड के दो मुख्य कार्य बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

1. सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था बनाये रखना ;
2. दमन करना ।

गौतम के अनुसार दण्ड शब्द क्रिया 'दमयति' से व्युत्पन्न हुआ है ।[53]

दण्ड शब्द व्याकरण के अनुसार निम्न प्रकार से व्युत्पन्न (निष्पन्न) हुआ है :- दण्ड् + अच् = दण्ड: । दण्ड देने के अर्थ में 'दण्ड्' धातु में 'अच्' प्रत्यय लगने पर दण्ड शब्द निष्पन्न होता है । जिसका अर्थ - यष्टिका, डण्डा, गदा, सोंटा इत्यादि होता है । अतएव यह दण्ड उन लोगों का दमन करेगा जो अपना दण्ड स्वयं नहीं करते हैं । गौतम भी दण्ड का मुख्य कार्य दमन ही मानते हैं परन्तु दण्ड केवल उन्हीं व्यक्तियों का दमन करेगा, जो अनुचित व्यवहार (आचरण) करते हैं ।

आचार्य शुक्र ने भी दण्ड शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि दण्ड के द्वारा प्रसूत आचरण से निवृत्ति और दमन होता है । अत: जिस उपाय से मनुष्य का भलीभाँति दमन होता है, उसे ही दण्ड कहते हैं ।[54] महाभारत में दण्ड की परिभाषा निम्नलिखित दी गयी है - मनुष्यों को प्रमाद से बचाने और उनके धन की रक्षा करने के लिए लोक में जो मर्यादा स्थापित की गयी, उसी का नाम दण्ड है ।[55] महाभारत में देवव्रत भीष्म के अनुसार इस संसार में सब कुछ जिसके अधीन है, वही अद्वितीय पदार्थ दण्ड कहलाता है ।[56]

दण्ड शब्द ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ इसका अर्थ न्याय के सन्दर्भ में नहीं है । उस समय वैरदेय प्रचलित था जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय क्षतिपूर्ति की भावना अधिक प्रबल थी । ऋग्वेद में 'शतदाय' शब्द आया है, जिससे स्पष्ट होता है कि ऐसा व्यक्ति जिसके रक्त का मूल्य सौ निष्क हो । यह भी इस बात को पुष्ट करता है कि उस समय 'वैरदेय' प्रचलित था ।[57]

यहाँ पर दण्ड का सम्बन्ध केवल अपराधी व जिसके प्रति अपराध किया गया है, इन्हीं दोनों से है । क्षतिग्रस्त होने पर व्यक्ति स्वयं उस अपराधी को दण्डित करता था । राजा या राज्य का उस पर कोई अधिकार नहीं था । इसलिए दण्ड के रूप में प्राप्त धन वह स्वयं रख लेता था ।

न्याय करने के अर्थ में दण्ड का प्रयोग सर्वप्रथम ब्राह्मण साहित्य में हुआ । शतपथ ब्राह्मण में राजा के द्वारा दण्ड देने का उल्लेख मिलता है ।[58] इस प्रकार इससे यह पुष्टि होती है कि इस समय राजा की राजकीय शक्ति का विकास हो रहा था तथा एक मनुष्य के अपराध को पूरे राज्य के प्रति किया गया अपराध मानने की भावना का विकास हो रहा था । फलत: दण्ड देने की शक्ति राजा में निहित होती जा रही थी । सूत्रकाल में दण्ड के महत्त्व स्पष्ट दिखायी देने लगे ।

धर्मसूत्रों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि दण्ड देते समय स्थान, समय, आयु, अपराधी की शिक्षा, देश, जाति, कुल के धर्मों आदि पर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए ।[59] सूत्रकारों ने दण्ड हेतु शक्ति को आवश्यक माना और स्वाभाविक ही है कि यह शक्ति राजा में ही निहित थी । सूत्रकार यह नहीं मानते कि न्याय बिना शक्ति के व्यर्थ है । वे केवल इतना ही माने कि न्याय की गारण्टी के लिए शक्ति आवश्यक है ।[60]

महाभारत के अनुसार दण्ड को सब पर शासन करने वाला तथा सबकी रक्षा करने वाला बताया गया है जो सबके सो जाने पर भी जागता रहता है ।

विद्वान् दण्ड को ही धर्म कहते हैं ।[61] महाभारत में दण्ड सम्बन्धी विचारों से यह ज्ञात होता है कि समाज की सुरक्षा-व्यवस्था एवं अपराधियों का सुधार ही दण्ड का उद्देश्य था एवं यह दण्ड राजा में निहित था ।

मनुस्मृतिकार भगवान् मनु के अनुसार उस राजा का कार्य बनाने के लिए ईश्वर ने सब जीवों के रक्षक, ब्रह्मतेज से सम्पन्न, धर्मरूप दण्ड को सर्वप्रथम उत्पन्न किया ।[62] आचार्य कौटिल्य ने दण्ड की निम्नलिखित परिभाषा दी है - आन्वीक्षिकी (सांख्य, योग एवं लोकायत), त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद) तथा वार्त्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि विषय) इन तीनों विद्याओं के योग एवं क्षेम का जो साधन है, वही दण्ड कहलाता है ।[63]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतिकाल तक दण्ड का स्वरूप पूर्णतया विकसित एवं निर्धारित हो चुका था । दण्ड की आवश्यकता, महत्त्व, दण्ड का सम्यक् प्रयोग, उसके प्रकार तथा उद्देश्यों पर स्मृतियों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है । भगवान् मनु के अनुसार सम्पूर्ण विश्व दण्ड के अधीन है । सज्जन (पवित्र, शुद्ध) मनुष्य तो दुर्लभ ही हैं । दण्ड के भय से ही समस्त जीव अपना अपना भोग भोगते हैं ।[64] इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् मनु एवं आचार्य कौटिल्य दोनों ने धर्म एवं मर्यादा के स्थापनार्थ एवं रक्षार्थ ही दण्ड की उत्पत्ति मानते हैं ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. शतपथ ब्राह्मण, 5/4/4/7.

2. वशिष्ठ संहिता, 21/4/9; गौतम०, 11/9-10; बोधायन०, 1/10/18.
3. नीतिसार, 2/15, शुक्रनीति, 1/157.
4. वशिष्ठ०, 21.
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/2-5-12, 15/3.
6. वही, 15/12.
7. वही, 15/5/34.
8. वही, 67/6-11.
9. वही, 5 6/3-7.
10. वही, 59/14.
11. वही, 14/13.
12. वही, 1/22.
13. Nistzsche, Quoted in Pal, The History of Hindu Law, P. 266.
14. नारद०, 1/1.
15. श्रीमद्भगवद्गीता, 7/13-15.
16. महाभारत, शान्तिपर्व, 59/15-19.
17. वही, 22/29.
18. वृहस्पति, व्य०का० 1/24, सं० का०, 7-8.
19. महाभारत, शान्तिपर्व, 268/8-12.
20. भागवत पुराण, 3/15/36.
21. ब्रह्मवैवर्त पुराण, 2/30/81.
22. पद्मपुराण, 1/39/81.

23. मत्स्यपुराण, 225/15-16.

24. अग्निपुराण, 226/15.

25. स्कन्दपुराण, 6/128/14.

26. भागवत पुराण, 10/68/31.

27. पद्मपुराण, 1/19/325.

28. मत्स्यपुराण, 225/17-18.

29. वही ।

30. कूर्म पुराण, 8/22, विष्णुपुराण, 1/7/29.

31. ब्रह्माण्डपुराण, 2/29/89, मत्स्यपुराण, 142/74, वायुपुराण, 57/82.

32. मत्स्यपुराण, 226/1.

33. पद्मपुराण, 5/5/37.

34. कामन्दक नीतिसार, 2/38-43/1.

35. याज्ञवल्क्य0, 1/354, नारद0, 1/1-2.

36. डेविड एण्ड कारपेण्टर, दीघनिकाय, खण्ड 3, पृष्ठ 93.

37. याज्ञवल्क्य0, 1/354.

38. महाभारत, शान्तिपर्व, 121/46.

39. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ - मनुस्मृति, 7/3.

40. मनुस्मृति, 7/14-26.

41. कौटिलीयम अर्थशास्त्र म्, 1/4/3-16, और 1/5/1.

42. Williams, M.M., Sanskrit English Dictionary, P.416.

43. महाभारत, शान्तिपर्व, 69/64-65, याज्ञवल्क्य0, 1/353. मत्स्य0पु0, 225/11.

44. याज्ञवल्क्य0, 1/146 पर मिताक्षरा, कामन्दक, 18/1.

45. वही, 1/346 पर मिताक्षरा

46. मनुस्मृति, 9/294.

47. कौटि0अर्थ0, 6/1.

48. याज्ञवल्क्य0, 1/346, महाभारत, शान्तिपर्व, 69/23.

49. मनुस्मृति, 7/109.

50. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 661.

51. दण्डो ददतेर्धारयति कर्मण: । निरुक्त, 2/1.

52. दमनादित्यौपमन्यव: । निरुक्त, 2/1.

53. गौतम0, 11/208.

54. शुक्रनीति-4, मिश्र प्रकरण-43.

55. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/10.

56. वही, 131/8.

57. The Vedic Age, P. 360.

58. Pal.R.B., History of Hindu Law, P. 255.

59. गौतम सूत्र, 11, 12/51, वशिष्ठ0, 19/7, आपस्तम्ब0, 11/6/15-1.

60. Pal, R.B., History of Hindu Law, P. 311.

61. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/2.

62. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वर: ॥ - मनुस्मृति, 7/14.

63. आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेम साधनो दण्डः ।

- कौटि०अर्थ० - 1/4/3.

64. सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।

दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्पते ॥

- मनुस्मृति, 7/22.

---------::0::--------

द्वितीयोऽध्याय:

दण्ड का प्रयोजन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक प्राणी होने के कारण हर प्रकार के कार्यों के पीछे उसका कुछ न कुछ प्रच्छन्न अथवा प्रत्यक्ष प्रयोजन होता है । क्योंकि हमारी नीति भी यही प्रकट करती है कि -

"प्रयोजनमनिर्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।" अर्थात् विना प्रयोजन (किसी प्रकार का कारण) के मूर्ख भी कोई कार्य नहीं करता है । इसी प्रकार दण्ड प्रदान करने का भी कुछ न कुछ प्रयोजन होना चाहिए । दण्ड का प्रयोजन मानव समाज में प्रतिदिन होने वाले अपराध कर्मों को रोकना एवं समाज की सुरक्षा करना है । यही इतना ही नहीं अपितु समाज में मंगलकारी (कल्याण-कारी) कार्यों के प्रति मानव समुदाय में प्रेरणा की वृत्ति को जागृत करना है । यह दण्ड न केवल समाज में अपराधियों को अपराध की पुनरावृत्ति करने से रोकता है अपितु भविष्य में अपराधियों के सम्मुख एक उदाहरण प्रस्तुत करता है कि यदि वे (अन्य लोग) ऐसा करेंगे तो उन सबको भी इसी प्रकार दण्ड भोगना पड़ेगा । इसके साथ ही साथ दण्ड का एक अन्य दूसरा प्रयोजन यह भी होता है कि इन अपरा-धियों को सुधार करके उन्हें समाज के लिए एक अच्छा नागरिक बनाया जाय, जिससे समाज में दूषण न होवे । कभी-कभी दण्ड के मूल में प्रतिशोध (बदला) की भावना भी कार्य करती है इसीलिए मनु आदि ऋषियों ने अपराधी को समुचित एवं यथार्थ दण्ड देने को कहा है । प्राचीन भारत में दण्ड व्यवस्था के मूल में प्रायश्चित की भावना भी रहती है । दण्ड के मुख्यतया चार प्रयोजन माने जाते हैं । आधु-निक विधि शास्त्री भी दण्ड के चार प्रयोजन ही बताते हैं जो निम्नलिखित हैं :-

1. अवरोधक (निवारणार्थ),

2. निरोधक (निषेधात्मक),

3. सुधारात्मक, एवं

4. प्रतिकारात्मक ।

प्राचीन भारत में भी दण्ड के ये ही चार प्रयोजन विद्यमान थे । इसके अलावा उस समय के समाज में प्रायश्चित का भी अत्यन्त महत्त्व विद्यमान था । अपराध को रोकने एवं कम करने तथा समाज के अन्य लोगों के लिए चेतावनी स्वरूप अवरोधक दण्ड होता है । यह दण्ड का प्रयोजन अपराधी को अपराध के योग्य न बनाने और डर पर आधारित है । अतएव इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अपहरण करने वाले, अंगच्छेद, मृत्युदण्ड, देश-निष्कासन, आजीवन कारावास आदि का विधान किया गया है । निरोधक प्रयोजन, अवरोधक एवं सुधारात्मक प्रयोजन में समन्वय स्थापित करने में सहायक होता है । उन्हें परस्पर अलग करना भी कठिन एवं दुरूह होता है । इसमें मनुष्य को चेतावनी के स्थान पर अपराध के कारणों को समाप्त करना है, जिससे अपराध की पुनरावृत्ति न हो । व्यक्तिवादी विचारधारा से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है । इसका प्रभाव दण्ड-प्रयोजन पर भी पड़ा । सुधारात्मक प्रयोजन इसी विचार का परिणाम (प्रतिफल) है । इसमें अपराध की अपेक्षा अपराधी पर विशेष ध्यान दिया गया है। अपराधी मात्र दण्ड का ही नहीं, बल्कि वह उपचार का भी पात्र होता है । अतएव सामाजिक सुरक्षा के साथ ही साथ अपराधी के व्यक्तित्व पर भी ध्यान देना परमावश्यक होता है क्योंकि मन: स्थिति के विशेष कारणों से अपराध हो जाने पर दुष्कार्य करने वाले अपराधी में परिवर्तन भी सम्भव हो जाता है । कभी कभी महान् व्यक्तियों से भी अपराध हो जाता है । राष्ट्र यदि उचित वातावरण प्रस्तुत करे तो व्यक्ति के अपराध की मन: स्थिति का भी लोप हो सकता है ।

प्रतिकारात्मक प्रयोजन प्रारम्भिक समाज में बदला ॥आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत आदि॥ पर आधारित रहा है ।

प्रायश्चित प्रयोजन नैतिकता पर आधारित है । इसे मुख्यतया पूर्णरूपेण विधि की सीमा से नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि प्रायश्चित पाप का होता है, जबकि दण्ड अपराध का होता है । पाप एवं अपराध में पूर्ण भेद न होने पर प्रायश्चित का प्रभाव अत्यधिक था । यद्यपि अपराध-विधि (criminal Law) को नैतिकता से अलग-थलग नहीं किया जा सकता है तथापि उसे आचार संहिता में उलझाया भी नहीं जा सकता है । पाप या आचारिक अपराध दण्ड की सीमा से परे भी होते हैं । फलत: प्रायश्चित राज्य हस्तक्षेप में तब तक नहीं आता है जब तक कि वह उसका प्रयोग सामाजिक प्रतिनिधियों से उचित रूप में हो रहा होता है ।

अवरोधक ॥निवारणार्थ॥ :

जब हम सभी प्राचीन भारत के दण्ड प्रयोजन ॥दण्ड सिद्धान्त॥ का अवलोकन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का दण्ड सिद्धान्त मुख्य रूपेण अवरोधक ही है तथा अन्य उद्देश्य इसके मात्र सहायक ही हो सकते हैं । इस प्रकार से दण्ड देने का प्रयोजन यह था कि अपराधी को भावी ॥भविष्य में होने वाले॥ अपराधियों के सामने ॥समक्ष॥ एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता था ताकि वे इससे शिक्षा ग्रहण करें और स्वयं उस अपराध को कभी करने का साहस न करें इस प्रकार दण्ड मुख्यतया एक अवरोधक के रूप में कार्य करता था । भारतीय धर्मग्रन्थों एवं शास्त्रों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि दण्ड के भय से ही मनुष्य

अपने धर्म का पालन करता है । इस विषय में भगवान् मनु का कथन है सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियन्त्रित किये जाने पर ही सन्मार्ग पर चलते हैं, क्योंकि स्वभाव से पवित्र मनुष्य मिलना दुर्लभ है ।[1]

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित है कि राजदण्ड, यमदण्ड एवं जनमत के भय से लोग पाप नहीं करते हैं ।[2] इस प्रकार अपराधों को रोकने में दण्ड का भय अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । महाभारत के अनुसार दण्ड व्यवस्था न होने से समाज में सर्वत्र मात्स्य-न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी ।[3] गौतम का भी कथन है कि दण्ड उन लोगों का दमन करता है जो अपना दमन स्वयं नहीं करते हैं ।[4]

इसी से समाज की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए यह बहुत आवश्यक था कि राजा अपराधियों को दण्डित करे एवं उनको दिये गये दण्ड द्वारा भावी अपराधियों को उस प्रकार का अपराध करने से रोके । भगवान् मनु का कथन है कि यदि राजा आलस्य का त्याग न करके दण्डनीय को दण्ड न दे तो बलवान व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों को कांटे में पकड़ी गयी मछलियों के समान भूनकर भक्षण कर ले ।[5] सभी जीवों की रक्षा के लिए स्वयं ईश्वर ने ब्रह्मतेज से सम्पन्न दण्ड की दैवी उत्पत्ति की, जिसके डर से प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने धर्म से इधर उधर विचलित नहीं होते हैं ।[6]

आचार्य कौटिल्य ने भी इसी परिप्रेक्ष्य में कहा है कि अप्रयुक्त (बिना दण्ड के भय से) दण्ड लोक में मात्स्य-न्याय उत्पन्न करता है ।[7] बलवान व्यक्ति निर्बल को अत्यन्त पीड़ित करता है । इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य

कौटिल्य कहते हैं कि दण्ड-विधान-कर्त्ता राजा के न रहने पर बलवान, निर्बल को अपना ग्रास बना लेता है । इस कारण दण्डधर का होना बहुत आवश्यक है ।[8]

इस प्रकार अब हम यह देखते हैं कि दण्ड इस अर्थ में अवरोधक था कि अपराधी को दण्ड देकर, अन्य अपराधियों को जिनके विचार, भावनाएँ व परि-स्थितियाँ बहुत कुछ अपराधों के समान हैं, उन्हें अपराध करने से रोकें । ऐसी परिस्थिति में दण्ड भविष्य में आने वाले अपराधियों के हृदय में भय की अनुभूति कराता था । अतएव वे सब अपराधों को नहीं कर सकते थे परन्तु यह तभी सम्भव है कि जब दण्ड इतना प्रभावशाली हो कि वह जनसामान्य के हृदय में डर उत्पन्न कर सके । यह सब कुछ दण्ड की कठोरता अथवा दण्ड दिए जाने के तौर तरीके पर निर्भर करता था । यथा - हम चोरी का ही अपराध लें । यदि चोरी करने पर प्राचीन भारत में मात्र यह कहकर कि तुमने उचित नहीं किया है, भविष्य में ऐसा मत करना, यह कहकर छोड़ दिया जाता है, तो यह किसी भी भावी अपराधी को, जो चोरी करने का विचार करता था उसे भयभीत करने में असमर्थ रहता । इसके विपरीत जब इसी अपराध के लिए अंगच्छेद, प्राणदण्ड, चिह्नांकन आदि कठोर दण्ड दिये जायँ तो वे अवरोधक के रूप में अत्यधिक सफल होते थे । इसके अतिरिक्त दण्ड को जनसामान्य के सम्मुख देने से भी उसका यह प्रयोजन अधिक सफल रहता था। इस प्रकार दण्ड दिये जाने में वे भावी अपराधियों के हृदय में उस अपराध को किये जाने के भयंकर परिणामों को दिखाकर उसे भयभीत करने में अधिक सफल रहते थे।

प्राचीन भारत में दण्ड के मूल में अवरोध करने की इच्छा कितनी अधिक प्रबल थी कि इसके हमें कई उदाहरण प्राप्त होते हैं । दण्ड पाये हुए व्यक्ति के

कष्टों एवं दु:खों को जनता के सामने दिखाकर उन्हें {जनता को} वैसा ही अपराध करने से रोका जाता था । इसी उद्देश्य से भगवान् मनु कहते हैं कि कारावास आदि को राजमार्ग के किनारे बनवाया जाय, जिससे उसमें बन्द हुए बन्दियों को दु:खस्य दण्ड को भोगने को सब लोग देख सकें । उनकी इस दुर्दशा एवं क्लेश को देखकर अन्य दूसरे व्यक्ति स्वयं अपराध करने से बचें ।[9]

कारावास में अपराधियों की दशा अत्यन्त शोचनीय होती थी । कैदियों के वस्त्र जीर्ण-शीर्ण तथा गन्दे होते थे । बाल तथा नाखून बढ़े होते थे । भोजन एवं जल का समुचित प्रबन्ध नहीं रहता था । ऐसी दशा में उस राजमार्ग से गमन करने वाले यात्री जब उन अपराधियों को देखते थे तो उन सबके हृदय एवं अन्त:करण में अवश्य भय उत्पन्न होता रहा होगा । यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है । अपराधियों के चिह्नांकन से भी इस प्रयोजन की पूर्ति होती थी । इसी प्रयोजन से दण्ड को जितना अधिक प्रभावशाली एवं प्रचारित कर सकते थे, उतना ही अधिक करते थे । दण्ड प्राप्त किये हुए अपराधी को सड़कों से लेकर चलते थे, अनेक बाजे आदि बजाए जाते थे । ताकि जनता का ध्यान उधर आकर्षित हो और वह आकर देखे कि अपराधी को किस प्रकार दण्डित एवं अपमानित किया जाता है ।[10]

इस सम्बन्ध में कवि शूद्रक अपने नाटक मृच्छकटिकम् में कहते हैं कि वधदण्ड पाये हुए चारुदत्त के लिए राजा के पालक निर्देश करते हैं कि जिस समय स्थायी अलंकार के कारण वसन्त सेना मारी गयी है, उसके गले में उन्हीं अलंकारों को बाँध-कर, नगाड़ा पीटकर, दक्षिण श्मशान में ले जाकर शूली पर चढ़ा दो । जो कोई

दूसरा इस प्रकार का दुष्कार्य करेगा वह भी इसी प्रकार घृणापूर्वक दण्ड से शिक्षा ग्रहण करेगा । चारुदत्त ने गले में कनेर की माला एवं कन्धे पर शूल धारण कर रखा था ।[11]

इस प्रकार दण्ड पाये हुए अपराधी को दण्ड देने के लिए दण्ड विधान इस प्रकार का था कि प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान उसी ओर आकर्षित होवे । इसी प्रयोजन से दण्ड देने से पहले अपराध की विधिवत् घोषणा की जाती थी ।

मृच्छकटिकम् में आर्य चारुदत्त को वध स्थल पर ले जाते समय पाँच घोषणा स्थलों पर चाण्डालों द्वारा उसके अपराध तथा राजा द्वारा दिये गये दण्ड की घोषणा, नगाड़ा बजाकर की गयी थी । इस घोषणा का मुख्य-प्रयोजन वहाँ उपस्थित अन्य लोगों को चेतावनी देना था, जबकि वह कहते थे कि यदि कोई दूसरा भी दोनों लोक के विरुद्ध ऐसा बुरा कार्य करता है तो उसे भी राजा के पालक इसी प्रकार अनुशासित करते हैं ।[12]

इस प्रकार अपराधी के अपराध एवं दण्ड की घोषणा करने का उद्देश्य अन्य लोगों को ऐसे अपराध करने से रोकना था ।[13] इस तरह से दिया जाने वाला दण्ड भावी अपराधियों के सामने एक उदाहरण रखता था कि 'देखो यदि तुम भी इस प्रकार अपराध करोगे तो तुम्हें भी इसी प्रकार का दण्ड मिलेगा ।' जिसके परिणामस्वरूप वे उस समय अपराध को करने से हिचकिचाते थे । इसके अलावा मृत्युदण्ड के अनेक प्रकार जैसे - हाथी से कुचलवाना, पानी में डुबाना, आग में जलाना, शूली पर चढ़ाना, कुत्तों से नुचवाना, विष पिलाकर मारना आदि तरीके

काफी सीमा तक अपराध करने से रोकते थे । अंगच्छेद के द्वारा भी दण्ड अपने इस प्रयोजन में सफल रहता था । इसके अलावा न्याय-कार्य भी खुले स्थान पर होता था । न्यायालय की रचना भी इसी प्रकार के सिद्धान्त पर आधारित थी । इस प्रकार हम देखते हैं कि भय पर आधारित दण्ड का प्रमुख प्रयोजन अपराधों का निवारण व अवरोधन अर्थात् रोकना था ।

निरोधक §निषेधात्मक§ :

दण्ड का एक दूसरा प्रमुख प्रयोजन अपराध का निरोध करना भी होता है । इसका उद्देश्य अपराधी को पुन: अपराध करने के योग्य न छोड़कर उस अपराध की पुनरावृत्ति रोकना है । इस प्रयोजन से प्रतिकारात्मक एवं सुधारात्मक प्रयोजन के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है । यह प्रयोजन सार्वभौम एवं सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक रहा है । निरोधक दण्ड का तात्पर्य यह है कि कल्याण की स्थापना में बाधक तत्वों को दूर कर अपराधों की पुनरावृत्ति के उन्मूलन का प्रयास करना । इस अवस्था में दमन भी सुधारात्मक हो जाता है । सुधार एवं निरोध में सामान्य अन्तर यह है कि निरोध भय पर आधारित है । सुधार में दुष्प्रवृत्तियों के स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना करना है ।

इस तरह हम सब देख चुके हैं कि दण्ड का प्रमुख उद्देश्य भावी अपराधियों को अपराध करने से रोकना था, किन्तु साथ ही साथ इसका एक विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि अपराधी, अपराध की पुनरावृत्ति §दुबारा§ न कर पाये । जब अपराधी को मृत्युदण्ड, अंगच्छेद, देश-निकाला, जेल में बन्द करना आदि दण्ड दिये जाते थे तब उनका उद्देश्य यही था कि अपराधी को पुन: वैसा

अपराध करने लायक न छोड़ा जाय । यथा - हम मृत्युदण्ड को ही लें । जब किसी अपराधी को मृत्युदण्ड दिया जाता था तो उसका उद्देश्य न केवल अपराधी-जनों को अपराध करने से रोकना था, अपितु स्वयं अपराधी को समाप्त करके अपराध की पुनरावृत्ति को रोकना था ।

भगवान् मनु का भी कथन है कि चोर जिस-जिस अंग से चोरी करे, राजा उस चोर के उसी-उसी अंग को कटवा ले ताकि फिर उससे वैसा अवसर न आये । यहाँ चोर के हाथ-पैर आदि कटवाने का प्रमुख प्रयोजन यही रहता था कि चोर पुनः चोरी न कर पाये ।[14]

आचार्य वृहस्पति कहते हैं कि यदि किसी चोर ने बलात् स्त्री, पुरुष, स्वर्ण, रत्न, देवता अथवा भगवान् की सम्पत्ति, रेशम और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ ले ली हैं तो जुर्माना, चोरी की गयी वस्तु के मूल्य के बराबर होगा अथवा उससे दूनी धनराशि राजा जुर्माने के रूप में लेगा, अथवा अपराध की पुनरावृत्ति न हो सके, इसलिए चोर को मृत्युदण्ड दिया जायेगा ।[15]

इसी प्रकार भगवान् मनु कहते हैं कि समान जाति वाली कामवासनायुक्त कन्या को दूषित करने पर राजा उस पुरुष की अंगुली तो न कटवावे, किन्तु वह अपराधी भविष्य में ऐसा न कर सके अथवा ऐसे प्रसंग को रोकने के लिए उसे राजा दो सौ पण से दण्डित करे ।[16]

ऐसे अपराधी को, जो स्वभाव से अपराधी हैं, उन्हें इस प्रकार से दण्डित करना स्वाभाविक एवं आवश्यक हो जाता है । वर्धमान का विचार है कि ऐसे

चोरों को जिनका दमन अन्य दण्डों से नहीं हो सकता है, तथा जो अभ्यस्त हैं, उन्हें मृत्युदण्ड देना चाहिए ।[17]

अपराधी को दण्डित करने का अभिप्राय यह है कि उसके द्वारा भविष्य में किये जाने वाले समस्त अपराधों को समाप्त करना यह सिद्धान्त शारीरिक दमन पर आधारित है । भगवान् मनु तीन प्रकार से अपराधियों को दण्डित किये जाने का उल्लेख करते हैं :-

1. निरोध ﴾जेल या कैदखाने में बन्द करना﴿ ।
2. बन्धन ﴾हथकड़ी और बेड़ी आदि डालना﴿।
3. अनेक प्रकार के वध ﴾ताड़न-मारण आदि﴿ ।

इन उपर्युक्त तीन उपायों से अधार्मिक अर्थात् अपराधी का प्रयत्नपूर्वक निग्रह करना चाहिए ।[18] इन उपायों से अपराधी की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता था । यदि व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है तो वह अपराध कैसे कर सकता है ? विष्णु के अनुसार कभी-कभी अपराध की गम्भीरता को देखते हुए अपराधी को आजीवन कारावास भी दिया जाता था ।[19]

ये सब स्थायी निरोधक का कार्य करते थे । इसी प्रकार का एक अन्य दूसरा दण्ड देश-निष्कासन भी था जिसमें अपराधी को देश से बाहर निकाल दिया जाता था । यह वस्तुतः सत्य ही है कि जहाँ दण्ड का उद्देश्य अपराध का निरोध करना है और उसके लिए यह दमन पर आधारित है परन्तु दमन के पीछे अपराधों को समाप्त करके समाज की रक्षा एवं कल्याण की भावना ही थी । इसमें

अपराधी को अपराध करने के योग्य न छोड़कर अपराधों की पुनरावृत्ति रोकना ही मुख्य उद्देश्य था । यदि इस प्रकार का दण्ड-विधान नहीं होगा तो समाज में हमेशा-हमेशा अपराध होते रहेंगे । राजनीतिक विचारक बेन्थाम के अनुसार सामान्य रूप से इन अपराधों का निरोध करना दण्ड का मुख्य उद्देश्य व औचित्य होना चाहिए ।[20]

अब एक बात चिन्तनीय एवं विचारणीय है कि क्या दण्ड अपराधियों को अपराध की पुनरावृत्ति करने से रोककर अपराधों के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करने में सफल हुआ ? कुछ विशेष स्थितियों में तो यह आवश्यक है और इसके अपेक्षित परिणाम भी सामने दृष्टिगोचर होते हैं । पर इस प्रकार दण्ड देने के पहले कतिपय बातों का भलीभाँति विचार करना आवश्यक है । यदि किसी अपराधी ने किन्हीं विषम परिस्थितियों में कोइ अपराध किया है तो इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि वह पुन: {दुबारा} उस अपराध को करेगा । ऐसे व्यक्ति को इस प्रकार से दण्डित करना बिल्कुल निरर्थक है । हो सकता है कि इस प्रकार दण्डित कर देने पर उसके अन्दर उस अपराध को पुन: करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाय, क्योंकि दण्ड से कुछ व्यक्तियों का स्वभाव कठोर हो जाता है । यह दण्ड उन अपराधियों के लिए जो स्वभाव से ही अपराधी प्रवृत्ति के हैं, अत्यधिक महत्त्व का होता है

सम्प्रति अब इस युग में अंग-भंग करना, चिह्नांकन करना, कोड़े मारने जैसे कठोर शारीरिक दण्डों को त्याग दिया गया है । मृत्युदण्ड भी केवल असामान्य एवं अतिविषम परिस्थितियों में हत्या जैसे अपराधों के लिए ही दिया जाता है । अतएव अधिकांश अपराधी कुछ समय के पश्चात् समाज में पुन: वापस

आ जाते हैं । इसलिए दण्ड के द्वारा अपराधी को केवल कुछ समय के लिए ही पुन: अपराध करने के लिए रोक दिया जाता है, किन्तु यदि दुबारा समाज में वापस आने पर उसके पुनर्वास की व्यवस्था न हो तो वह फिर अपराध करने के लिए विवश हो जाता है । निरोधात्मक प्रयोजन अपराधियों के पुनर्वास ‡फिर से निवास करने की व्यवस्था‡ के प्रयासों के अभाव में प्रभावहीन ही रह जाता है तथा इस प्रयोजन को भी एक सामान्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार समूची ‡समग्र‡ व्यवस्था विधि निषेध के पर्यालोचन से सुसम्बद्ध है ।

<u>सुधारात्मक</u> :

दण्ड के प्रयोजनों में एक प्रमुख प्रयोजन है सुधारात्मक प्रयोजन । इस प्रकार उचित दण्ड सुधारात्मक ही होता है क्योंकि इसमें पीड़ित एवं अपराधी दोनों के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों पर ध्यान दिया जाता है । उचित दण्ड का अभिप्राय समाज का कल्याण है । अतएव अपराधी के नैतिक कल्याण की समस्या का समाधान आवश्यक हो जाता है । ऐसी परिस्थिति में समाज के सम्मुख स्वयं यह प्रश्न रहता है कि अपराधी उचित मार्ग पर कैसे ले आया जाय कि उसमें से असामाजिक वृत्तियाँ समाप्त हो जायँ । इसके अन्तर्गत अपराध की अपेक्षा अपराधी पर अधिक ध्यान दिया जाता है । अपराध उद्देश्यों के चरित्र पर प्रभाव के कारण हो सकते हैं । अत: इन्हें दो प्रकार से रोका जा सकता है । एक उद्देश्यों में परिवर्तन द्वारा और दूसरा चरित्र में परिवर्तन द्वारा । पहले प्रकार में दण्ड अवरोधक के रूप में कार्य करता है तथा दूसरे में सुधारक के रूप में । प्राचीन भारतीय विधि-वेत्ताओं ने दण्ड के इस पहलू पर बहुत अधिक ध्यान दिया है ।

गौतम के अनुसार सुधार की दृष्टि से गुरु और दण्ड को एक समान श्रेणी में रखा जा सकता है ।[21] याज्ञवल्क्य का कहना है कि ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धाविसिक्त आदि जातियों, ताम्बूलिक आदि श्रेणियों, गणों और जनपदों को अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर राजा दण्ड देकर पुन: धर्म मार्ग में प्रतिष्ठित करे ।[22]

महाभारत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य समस्त प्रजा को धर्म के मार्ग पर स्थापित करना है ।[23] अपराधी को दण्डित करने का उद्देश्य पुन: धर्मसंगत मार्ग में प्रतिष्ठित करना है । मिताक्षरा के अनुसार अपराधियों को अपराध की प्रवृत्ति के अनुसार दण्डित करके स्वधर्म पालन में स्थापित करना चाहिए ।[24]

आचार्य कौटिल्य सुधारात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म-मार्ग में संलग्न करे, उसे ﴾प्रजा को﴿ पथ-भ्रष्ट न होने दे । ऐसा करने वाला राजा लोक एवं परलोक में सुखी रहता है ।[25]

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह राजा का कर्त्तव्य होता था कि वह अपराधी का सुधार करके उसे स्वधर्म में लगाए । यह तभी सम्भव है जब दण्ड द्वारा व्यक्ति का चारित्रिक सुधार किया जा सके । अपराधी के अन्दर नैतिक गुणों का विकास इस प्रकार किया जाता है कि अपराधी मनोवृत्ति का पूर्णरूप से अन्त हो जाता है अथवा काफी सीमा तक कमी आ जाती है । ऐसी स्थिति में सुधारात्मक दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति की नैतिक उन्नति, उसकी बुद्धि का विकास तथा उसके अन्दर ईमानदारी की भावना का विकास करना है । इससे स्पष्ट

होता है कि यह राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपराधी को सुधारकर स्वधर्म में लगाये । धर्मशास्त्रों में इस उद्देश्य पर बहुत अधिक बल दिया गया है ।[26]

यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि कोई कोई व्यक्ति अपराध विशेष मन:स्थिति में करते हैं । यदि उनकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन ला दिया जाय तो वे अपराध करना त्याग देंगे । यहाँ दण्ड का उद्देश्य अपराधी की इच्छा में सुधार करना है । यदि उसके ﴾अपराधी के﴿ अन्दर अपराध करने की इच्छा का अन्त हो जायेगा तो वह पुन: अपराध नहीं करेगा ।[27]

इसी से हम देखते हैं कि अपराध के कारणों पर भलीभाँति विचार करके दण्ड दिया जाता है । उसे समाज के लिए हानिरहित बनाने के लिए प्रयत्न किया जाता है । जिन बातों का उसमें अभाव है, उनकी पूर्ति की जाती है और उन कमियों को दूर किया जाता है, जिसकी वजह से वह अपराधियों के सम्बन्ध में यह दण्ड विशेष प्रभावशाली सिद्ध हुआ है । सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने यह अनुभव करना प्रारम्भ किया कि अपराधी को सुधारकर उसे समाज में व्यवस्था-पित करना भी समाज का उतना बड़ा ही उत्तरदायित्व है, जितना कि अपराधों को समाप्त करना अथवा अपराधी को दण्ड देना ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्ड का प्रमुख उद्देश्य समाज का कल्याण है । और समाज का सर्वाङ्गीण विकास तभी सम्भव है जब अपराधी कहे जाने वाले इस वर्ग की उपेक्षा न की जाय, बल्कि उन्हें भी समाज का एक अङ्ग समझकर उनसे सहानुभूति रखी जाय । उसे सुधारने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए ताकि उसे एक

अच्छा नागरिक व अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्ति बनाकर पुनः समाज में व्यवस्थापित किया जा सके । यहाँ पर उपयुक्त आधार पर दण्ड एक चिकित्सक के समान कार्य करता है जो न केवल रोग का निदान करता है अपितु उसका कारण खोजकर उसका उपचार करके रोगी को पूर्णरूप से स्वस्थ करता है ।

सुधारात्मक दण्ड में केवल वही दण्ड दिये जा सकते हैं, जिनका उद्देश्य उसे शिक्षित करना है तथा जो उसे एक अनुशासित जीवन का अभ्यस्त बना सके । मृत्युदण्ड, अंगच्छेद, वधदण्ड जैसे दण्डों का इसमें ﴾सुधारात्मक दण्ड में﴿ कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इन दण्डों को पाने वाले तथा देने वाले, दोनों को ही असीम कष्ट होता है ।

प्राचीन भारत में दण्ड के सुधारात्मक प्रयोजन पर आचार्य कौटिल्य ने बहुत अधिक बल दिया है । वह दण्ड द्वारा अपराध के कारणों का अन्त करना चाहते थे । आचार्य कौटिल्य अपराध को एक संक्रामक रोग समझते थे जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक फैलता है । आचार्य कौटिल्य का कथन है कि अपराध व्यक्तियों के समाज में सदैव उपस्थित रहता है । अतः आवश्यक है कि हम व्यक्ति की अपराधी प्रवृत्ति को ही समाप्त कर दें । इसका उद्देश्य अपराधी को शिक्षित करना था । दण्ड के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार अरस्तू के समान हैं ।[28]

आचार्य कौटिल्य के इस सुधारवादी दृष्टिकोण के दर्शन उनकी जेलों के सम्बन्ध में दी गयी व्यवस्था में दिखाई देता है । उस समय जेल में कैदियों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था । कैदियों को जो सुख-सुविधाएँ प्रदान की

जाती थीं, वे केवल इस बात की प्रमाण हैं कि जेल वह स्थान था जहाँ कैदियों का सुधार किया जाता था ताकि वह एक अच्छा नागरिक होकर बाहर समाज में आये । इसके लिए अपराधियों को एक निश्चित समय के लिए सुरक्षित स्थान पर रखा जाना चाहिए, जहाँ उन्हें नियन्त्रित तथा पापरहित जीवन के लिए विवश किया जाय । इस सुव्यवस्थित समय में वे जीवन के एक विशिष्ट प्रकार के ढंग के अभ्यासी हो जायेंगे जो उनमें अच्छी आदतों का विकास करेगा फिर एक ऐसा समय आ जायेगा जब वे सुन्दर एवं सभ्य जीवन के महत्त्व का अनुभव करने लगेंगे । इस प्रकार समय के साथ वे राज्य के अच्छे व स्वतन्त्र नागरिक बन जायेंगे ।

डॉ0 हरिहर नाथ त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि कठोर दण्ड-विधान के लिए कौटिल्य की बड़ी प्रसिद्धि है, किन्तु उद्देश्य में वे सुधारात्मक ही थे ।[29] आचार्य कौटिल्य का कथन है कि कैदियों को कम से कम समय के लिए जेल में रखा जाता था तथा अनेक अवसरों पर उनकी मुक्ति की जाती थी । उन्होंने यह अनुभव किया कि लम्बे समय तक कारागृह में अपराधी को रखना उचित नहीं है ।[30] आचार्य कौटिल्य आगे भी कहते हैं कि कैदियों से शारीरिक श्रम करवा करके भी उन्हें छोड़ा जा सकता है । यह कार्य दण्ड (कारागार) की अवधि (समय) को कम करता था । जेल में जो शारीरिक श्रम कैदियों से करवाया जाता था, उन्हें एक प्रकार का संयम एवं अनुशासन सिखाता था । इसके अलावा वह वहाँ रहकर जीविकोपार्जन के कुछ उपायों से भी परिचित हो जाया करता था । जो कारागार से निकलने पर उनकी सहायता करते थे । अतः यह स्पष्ट होता है कि दण्ड के द्वारा ही मनुष्य को उचित मार्ग पर लाया जा सकता है । यह प्राचीन चिन्तकों एवं विचारकों का भी मत था ।

महाभारत के अनुसार यदि कोई ब्राह्मण परिस्थितियों से विवश होकर अपराध करता है तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसके शास्त्रज्ञान और स्वभाव का परिचय प्राप्त करके उसके लिए उचित आजीविका की व्यवस्था करे और जैसे पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार राजा उस ब्राह्मण की रक्षा करे ।[31]

वास्तव में दण्ड साध्य नहीं है, अपितु वह साधन होता है । अतएव उसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण में ही है । सामाजिक कल्याण की स्थापना में वह सुधारवादी हो ही जायेगा । सुधार के लिए बन्दियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार मुख्य होते हैं । अपराधी ने क्यों अपराध किया है? यहाँ यह जानकर उसके प्रति सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया गया है । इसके अलावा वह पुनः अपराध न करे इसके लिए उसकी उचित आजीविका की व्यवस्था राजा(सम्प्रति शासन व्यवस्था)को करनी चाहिए । सुधारात्मक दण्ड प्रत्येक स्थिति में प्रभावशाली नहीं होता है । क्योंकि इस प्रकार के दण्ड में केवल कारागार को ही स्वीकार किया गया है । जब कारागार में प्रत्येक प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त होने लगेंगी तो वे कारागार न रहकर आरामगृह बन जायेंगे । इस दशा में कारागार में रहना कष्टकारक नहीं प्रतीत होगा । ऐसे दण्ड अन्य भावी अपराधियों के हृदय में भय उत्पन्न करने में भी सहायक नहीं सिद्ध होंगे । इसके अतिरिक्त यह दण्ड अपराधी स्वभाव के मनुष्यों पर कोई उचित प्रभाव भी नहीं डालेगा । अतएव अवरोधात्मक एवं निरोधात्मक दण्ड से ही अपराधी को दण्डित करना पड़ता है, जिससे वह पुनः भविष्य में अपराधों की पुनरावृत्ति न कर सके । इस प्रकार उसका दण्ड भावी अपराधियों के लिए चेतावनी का कार्य कर सकता है । इस प्रकार यह दण्ड

हर प्रकार के प्रत्येक अपराध के लिए प्रभावशाली नहीं हो सकता है । कुछ परिस्थितियों में मानव की स्वतन्त्रता का अपहरण अथवा उसके जीवन का अन्त सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक हो जाता है । इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त, बाल, किशोर तथा प्रथम अपराधियों के लिए ही उपयुक्त माना जाता है । एवं सम्प्रति वर्तमान युग में परिवीक्षा व्यवस्था इसी सिद्धान्त पर आधारित है । इसी प्रयोजन ॥सिद्धान्त॥ के अन्तर्गत आधुनिक जेल के सुधार के अनेक प्रयास किये जा रहे हैं । यह सिद्धान्त सभी प्रकार के अपराधों के लिए एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में अपनाया जा सकता है ।

दण्ड का उद्देश्य चरित्र, नैतिकता तथा मानवीय गुणों का विकास करना है । जो कुछ सोचा जाता है वही परिस्थिति विशेष में मूर्त्त रूप धारण कर लेता है । राजदण्ड के माध्यम से व्यक्ति उचित मार्ग पर लाया जा सकता है । अन्यत्र भी दण्ड का मूलोद्देश्य सुधार ही माना गया है । अपराधी यदि कुटुम्ब, जाति, वर्ग या सम्बन्धित आदि से दण्ड पा चुका है, तो उचित है कि राज्य उसे सन्मार्ग पर ले आने का प्रयत्न करे ।

महाभारत के अनुसार दुष्ट को दण्ड देकर समाज निरापद हो सकता है । राजा का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति को उचित जीवन व्यतीत करने की दशा में अवसर प्रदान करे ।[32]

भगवान् मनु एवं आचार्य कौटिल्य दोनों लोगों ने यह व्यवस्था की है कि बन्दी को जेल में कम से कम समय तक रखा जाय । इसके लिए वे सेवा, बेगार

आदि लेकर उसकी सजा कम कर देते थे । ध्यातव्य यह है कि सेवा और बेगार लेने पर उसका प्रतिफल बन्दी के जेल के कार्य काल में जोड़ा जाता था । इसलिए उसका कार्यकाल कम किया जा सकता था । इस प्रकार हम यह पाते हैं कि मनु एवं कौटिल्य दोनों दण्ड-विधान में एक दूसरे के अति सन्निकट एवं पूरक ही हैं । यथार्थ-दण्ड के दोनों लोग दाता एवं प्रशंसक हैं ।

आजकल कल्याणकारी राज्य में दण्ड का सुधारात्मक उद्देश्य अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता है । सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य अपराधियों को कारागृहों में शिक्षा देना, उद्योग-धन्धे आदि सिखाना आता है ।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के अनुसार मानव जन्म से बुरा नहीं होता, अपितु परिस्थितियाँ उसे बुरा बना देती हैं । अत: अपराधी को इन बुराइयों, से दूर रखकर उन्हें अच्छे मानव बनाना ही सुधारात्मक दण्ड का मूल उद्देश्य होना चाहिए ।[33]

सुधारात्मक दण्ड का उद्देश्य इस कथन पर आधारित है कि 'हमें पापी से नहीं, पाप से घृणा करनी चाहिए । अपराधी से नहीं, अपराध से घृणा करनी चाहिए ।

प्रतिकारात्मक :

प्रतिकारात्मक दण्ड समाज में बदले की भावना पर ही आधारित रहा है। जो जैसा अपराध करता था, उसे वैसा ही दण्ड मिलता था । इस दण्ड का उद्देश्य

था "जीवन के बदले जीवन, हाथ के बदले हाथ, पाँव के बदले पाँव, आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत ।" यही प्रतिकारात्मक दण्ड का सिद्धान्त है। यथार्थवादी विचारक दण्ड को साध्य से सम्बद्ध न कर उसे घटित तथ्य तक ही रखना चाहते हैं । न्यायालय द्वारा अपराध के समान ही उचित दण्ड एवं प्रतिफल की व्यवस्था होना आवश्यक है । आदर्शवादी विचारक कान्ट भी प्रतिकारात्मक दण्ड को उचित मानते हैं ।

इस प्रकार के दण्ड के मूल में प्रतिशोध की भावना होती है । इसमें जिस व्यक्ति की हानि हुई है, वह हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति से प्रतिशोध (बदला) लेता है । दण्ड का यह प्रयोजन मुख्य रूप से अविकसित समाज में पाया जाता है । जबकि अपराध का सम्बन्ध केवल वादी एवं प्रतिवादी से होता है । कभी कभी समाज भी सामूहिक रूप से प्रतिशोध लेता था । एक व्यक्ति के अपराध पर उसके पूरे समाज को भी दण्डित किया जाता था । इसका प्रमुख कारण यह था कि वादी एवं प्रतिवादी दोनों ही किसी न किसी समाज के अंग हैं । इस प्रकार यह अपकृत व्यक्ति की भावना को शान्त करता था ।[34] इसका कारण यह होगा कि जो कार्य आज अपराध है, वह प्राचीनकाल में व्यक्तिगत अपराध समझा जाता रहा होगा । इसी से केवल अपकृत व्यक्ति ही मुकदमा लाता था, न कि राज्य ।[35]

अल्तेकर के अनुसार जैसे योरप में, वैसे भारत में भी अपनी क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही उप-योजना करनी पड़ती थी । प्राचीन इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड एवं भारत में यह प्रथा थी कि क्षतिग्रस्त मनुष्य अपराधी के मकान के सामने तब तक धरना देकर बैठे व उसको बाहर जाने से रोके जब तक कि अपराधी

उसे उचित मात्रा में क्षतिपूर्ति ॥मुवावजा॥ देने को तैयार न हो ।[36]

इस प्रकार का दण्ड 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' के सिद्धान्त पर आधारित था । प्रारम्भ में अपकृत व्यक्ति स्वयं बदला लेता था । बाद में सामाजिक विकास के साथ साथ वह स्वयं बदला न लेकर मध्यस्थ के द्वारा अपराधी को दण्ड दिलवाने लगा । यहीं से आधुनिक न्यायपालिका का जन्म हुआ ।[37]

नैतिक विचार से प्रतिकारात्मक दण्ड में कोइ औचित्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु मानव-स्वभाव की दृष्टि से अपकृत व्यक्ति की सर्वप्रथम इच्छा यह होती है कि वह किसी भी प्रकार अपराधी से बदला ले । यदि यह भावना व्यक्ति में न हो तो आपराधिक विधि का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाय। एक पाश्चात्य विद्वान् का तो यहाँ तक कहना है कि बदले की भावना का अप-राधीय-विधि से वही सम्बन्ध है, जो यौन-क्षुधा का विवाह से है ।[38]

इस प्रकार के दण्ड में दण्ड का सम्बन्ध, अपराध से उतना नहीं है, जितना कि अपकृत व्यक्ति की भावनाओं से है । विकसित से विकसित समाज अन्याय को सहन नहीं कर सकता है और वह अपराधी को उसके किये गये अपराध का फल भोगने को विवश करता है । कान्ट जैसे आदर्शवादी भी इसका औचित्य स्वीकार करते हैं ।[39] बेन्थम का कहना है कि बदला ॥प्रतिशोध॥ लेना आधुनिक मानव को भी अच्छा लगता है ।[40]

प्रारम्भिक समाज में प्रतिकारात्मक दण्ड का अत्यधिक प्रयोग होता था ।

आज जब प्रतिफल आदि के दण्ड विद्यमान हैं तो उनमें प्रतिवाद के अंश अवश्य मानने पड़ेंगे । राज्य से इस प्रकार के दण्ड की व्यवस्था का यह निष्कर्ष नहीं कि राज्य प्रतिकार पक्ष का विकास करता है । प्रारम्भिक समाजों में व्यक्ति के अधिकार, ग्राम, कुटुम्ब या समुदाय के प्रधान द्वारा व्यक्त होते थे । व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप में कोई मूलाधिकार नहीं था । इस अवस्था में कुटुम्ब या समुदाय के माध्यम से व्यक्त होता था । व्यक्ति स्वतन्त्र नागरिक के स्थान पर संगठन का सदस्य था । उसमें संगठन के प्रति कर्त्तव्य के ही भाव, अधिकार की जगह स्थानापन्न हो जाते थे ।

वैदिक काल में हमें दण्ड के प्रतिकारात्मक उद्देश्य के दर्शन होते हैं । वैदिक समाज संघबद्ध था । व्यक्ति का व्यक्तित्व कुटुम्ब, ग्राम एवं सामाजिक संगठनों में समाविष्ट था । व्यक्ति का अपराध कुटुम्ब एवं संगठन का अपराध माना जाता था । अपराध के दण्ड में प्रतिकार का रूप प्रतिफल के रूप में अभि-व्यक्त होता है । इसे ही वैरदेय कहा गया है । ॠग्वेद में वैरदेय, प्रतिदान या क्षतिपूर्ति का सम्बन्ध राज्य की अपेक्षा अपराधी एवं अपकृत व्यक्ति से होता था । यही देय शब्द स्मृतियों में पारिभाषिक हो गया है । प्रतिफल व्यक्ति के स्थान पर संगठनों के माध्यम से लिया-दिया जाता । चोर के दण्ड में प्रतिफल का यह रूप दिखायी पड़ता है ।

प्रतिकारात्मक दण्ड का एक रूप दिव्य साक्षी के रूप में भी होता था । वैदिक काल में ॠत एवं ईश्वरेच्छा के उल्लंघन का फल दैवी और मृत्यु है । एक व्यक्ति का अपराध पूरे समाज को दण्ड के रूप में मिलता है । इस प्रकार के दण्ड

का ज्ञान दिव्य-साक्षी से होता है । यह प्रकार प्राय: सभी प्राचीन समाज में पाया जाता है । इसमें दण्ड देने का कार्य किसी मानवीय संस्था को न सौंपकर ईश्वर को सौंप दिया जाता था । इसके मूल में यही भावना रहती थी कि प्रभु ही सर्वज्ञ हैं । जो मनुष्य को भी नहीं ज्ञात है, वह उसे ﴾ईश्वर को﴿ ज्ञात है । अत: जब मनुष्य दिव्य-सम्पादित करेंगे तो सत्य का स्वत: उद्घाटन हो जायेगा । अपराधी व्यक्ति दण्डित हो जायेगा एवं निर्दोष व्यक्ति की अपराध से मुक्ति हो जायेगी । दिव्य-सम्पादित करने का व्यक्ति को दैवी-निर्णय प्राप्त हो जाता था ।

ऋग्वेद के अनुसार दैवी निर्णय का उल्लंघन करके कोई जीवित नहीं रह सकता है ।[41] पश्चिम में दिव्य-साक्षी से होने वाले न्याय को, ईश्वर का न्याय कहा गया ।[42]

तात्पर्य यह है कि दिव्य-साक्षी के रूप में भी प्रतिकारात्मक दण्ड-सिद्धान्त का विकास हुआ । कालान्तर में दिव्य का अर्थ केवल साक्षी के रूप में ही रह गया।

अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या अन्य प्राचीन सभ्यताओं के कानून ﴾विधान﴿ की भाँति भारत में भी दण्ड का उद्देश्य प्रतिकारात्मक था ? यह सत्य है कि धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में भी कुछ इस प्रकार के दण्ड मिलते हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि दण्ड का उद्देश्य अपराधी से बदला लेना है । मारपीट अथवा हिंसा के कतिपय अपराधों में अपराधी का हिंसा करने वाला अंग कटवा लिया जाता था ।[43]
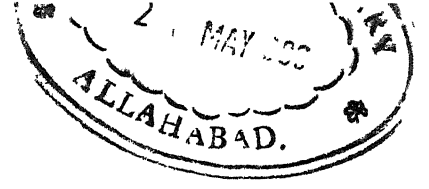
भगवान् मनु के अनुसार अन्त्यज अपने जिस अंग से द्विज पर प्रहार करे, उसके वे अंग कटवा लिये जायँ। अहंकारवश जो शूद्र ब्राह्मण के केश, पाँव, दाढ़ी, कंठ या अंडकोश आदि पकड़े तो उसके दोनों हाथ कटवा दिये जायँ।[44]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार शूद्र जिस अंग से ब्राह्मण को अभिहत करे, उसका वह अंग छिन्न कर लिया जाय।[45] परन्तु इस प्रकार के दण्डों का उद्देश्य प्रतिकारात्मक नहीं है। अपराधी को इस प्रकार का दण्ड देने का उद्देश्य यह था कि अपराधी उस अपराध को करने के योग्य न रह जाय तथा उसके उस दण्ड को देखकर अन्य व्यक्ति भयभीत हो जायँ एवं शिक्षा ग्रहण करके भविष्य में कभी वैसा करने का दुस्साहस न करें।

प्राचीन भारत की दण्ड व्यवस्था प्रतिकारात्मक नहीं थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कोई व्यक्ति कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकता है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि जो व्यक्ति संदिग्ध धन अपनी इच्छा से लेना चाहे और जो व्यक्ति स्वयं स्वीकार किये गये अथवा प्रमाणित हुए धन के माँगने पर भाग जाय, जो अभियुक्त राजा द्वारा बुलाये जाने पर भी उत्तर न दे, वे सभी पराजित होते हैं और दण्ड के भागी होते हैं।[46]

नारद का भी विचार था कि जो व्यक्ति बिना राजा को सूचित किये संदिग्ध धन या विपक्ष द्वारा मना किये गये धन को प्राप्त करने की चेष्टा करता है तो वह दण्डनीय होता है और वह उस धन को भी नहीं प्राप्त कर सकता है।[47] नारद के समान वृहस्पति भी इसी विचार से सहमत दिखायी पड़ते हैं।[48]

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति स्वयं कोई कार्य न कर बैठे, इसके लिए हिन्दू-विधि-शास्त्री बहुत सजग थे । इसी से उन्होंने इस विषय में स्पष्ट निर्देश दिये हैं ।

अत: इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत का दण्ड विधान प्रतिकारात्मक नहीं था । हाँ, कुछ सीमा तक भावनात्मक रूप में हम इसे देख सकते हैं, जबकि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र-चिन्तकों ने कई बातों पर भलीभाँति विचार करके विभिन्न अपराधों के लिए उचित दण्डों की व्यवस्था करके अपकृत व्यक्ति के हृदय में प्रज्ज्वलित प्रतिशोध की अग्नि को एक सीमा तक शान्त किया है ।

प्रायश्चित्त (आत्म-शुद्धि) :

दण्ड के पूर्व कथित उद्देश्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में दण्ड के मूल में अपराधी की आत्मशुद्धि की भावना भी क्रियाशील रहती थी । व्यक्ति जब अपराध करता था तो उसके साथ ही साथ वह पाप भी करता था । अपराध के लिए दण्ड का एवं पाप अथवा पातक के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है । पाप का सम्बन्ध नैतिक-विधि से नहीं हो पाता है । अतएव प्रायश्चित्त का सम्बन्ध वैधानिक प्रक्रिया से नहीं हो पाया ।

व्यक्ति को नैतिक रूप से पुन: स्थापित करने में प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र-चिन्तकों ने दण्ड एवं प्रायश्चित्त दोनों को आवश्यक मानते थे । कात्यायन के अनुसार शास्त्रज्ञों द्वारा शुद्धिकरण दो प्रकार का बताया गया है । प्रायश्चित्त एवं दण्ड ।[49] गुरु प्रायश्चित्त द्वारा एवं यम पुनर्जन्म के द्वारा शुद्धि करते हैं ।[50]

कुल्लूट भट्ट भी इसकी विवेचना करते हैं कि दण्ड और प्रायश्चित्त को पाप से मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं ।[51]

सेन का कथन है कि इसमें नैतिक पुन:स्थापन का पूरा हिन्दू-सिद्धान्त निहित है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह कर्म-सिद्धान्त के साथ जटिल रूप से जुडा है, जिसके अनुसार अपराधी व्यक्ति न केवल इस जीवन में दण्डित होता है, अपितु मृत्यु के बाद भी अपने जो अन्य जन्म लेता है, उसमें भी उस दण्ड को भोगता है । व्यक्ति के अपराध की शुद्धि तीन प्रकार से सम्भव थी :-

1. राजा या कानून के द्वारा दिये गये दण्ड से ।
2. कर्म के सिद्धान्त द्वारा इस जन्म के ।
3. मृत्यु के बाद के जीवन में ।

इस प्रकार राज्य के कानून द्वारा दिया गया दण्ड शुद्धिकरण के तीन प्रचलित उपायों में से केवल एक है ।[52] भगवान् मनु का कथन है कि मनुष्य पाप करके राजा द्वारा दण्डित होकर पापरहित हो, पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग को जाते हैं ।[53] वशिष्ठ एवं नारद भी लगभग इन्हीं शब्दों में दण्ड द्वारा अपराधी की शुद्धि करने वाला मानते हैं ।[54]

महाभारत में शंख, लिखित से कहते हैं कि उस दण्ड को स्वीकार करके तुम पितरों सहित पवित्र हो गये ।[55] इस तरह दण्ड व्यक्ति की शुद्धि करके उसे पहले की तरह निर्दोष बना देता है ।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि ब्राह्मण का सोना चुराने वाला अपने कर्म को

बतलाता हुआ राजा के हाथ में मूसल देराजाद्वारा मूसल से मारे जाने पर अथवा मुक्त कर दिये जाने पर भी वह अपराधी शुद्ध हो जाता है ।[56] राजा चाहे अपराधी को दण्ड देवे अथवा क्षमा कर देवे, दोनों ही परिस्थितियों में वह पवित्र हो जाता है ।

मिताक्षरा का कथन है कि राजा द्वारा प्राप्त दण्ड अथवा क्षमा से अपराधी अपने अपराध से शुद्ध हो जाता था ।[57] यहाँ पर दण्ड अपने उद्देश्य और प्रभाव में प्रायश्चित्त के समान कार्य करता है ।

भारत के हिन्दू-जीवन-दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विशिष्ट स्थान रहा है । कर्म का चक्र इस जीवन के बाद भी चलता रहता है । अपराध करने के बाद व्यक्ति अपने धर्म से हट जाता था, ऐसा व्यक्ति नरक में जाता था एवं सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों से वह बहिष्कृत हो जाता था । ऐसी परि-स्थिति न आने पाये इसी से हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों के विचारकों एवं चिन्तकों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है । तपस्या, प्रायश्चित्त एवं मृत्योपरान्त मिलने वाले दण्ड ऐसी व्यवस्था के अंग थे जो कि धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित थी और प्राचीन हिन्दुओं का जिस पर पूर्ण विश्वास था ।[58]

यदि पापी दण्ड और प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र नहीं हो जाता था तो वह अपने कर्मों का फल अपने अगले जन्मों में भोगता था । प्रायश्चित्त का प्रभाव केवल इस जीवन में ही नहीं था अपितु वह अपने अगले जन्मों को भी इससे सुधार लेता था । इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त के पश्चात् ही उसे जाति में सम्मिलित

किया जाता था । किस व्यक्ति को प्रायश्चित्त करना चाहिए, इस विषय में भगवान् मनु का कहना है कि शास्त्र सम्मत कर्म को न करने वाला तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्म को करता हुआ तथा इन्द्रियों के विषय में अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य है ।[59]

याज्ञवल्क्य के विचार में जो नित्य अथवा नैमित्तिक कर्म विहित हैं, उसके न करने से निषिद्ध कर्म करने से तथा इन्द्रियों का संयम न रखने से मनुष्य पतित हो जाता है । अतएव मनुष्य की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए । इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा तथा लोक सभी प्रसन्न होते हैं ।[60]

महापातकों (ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुतल्पग, चार प्रकार के पातकियों से संसर्ग रखना) तथा उपपातकों के लिए अनेक प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है । उस समय भी लोगों के मन में यह विचार था कि कामकृत पापों के लिए प्रायश्चित्त किया जाय या अनजाने में किये गये पापों के लिए भी प्राय-श्चित्त करना आवश्यक था ।

भगवान् मनु के अनुसार कुछ विद्वान् अनजाने में किये गये पाप में प्राय-श्चित्त करने को कहते हैं और कतिपय आचार्य ज्ञान से किये गये पाप में भी श्रुति को देखने से प्रायश्चित्त करने को कहते हैं । अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेद के अभ्यास से नष्ट हो जाता है तथा राग-द्वेष आदि मोहवश इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों से नष्ट होता है ।[61]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि यदि पापी व्यक्ति प्रायश्चित्त नहीं करते

थे तो मृत्योपरान्त अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते थे ।[62]

पाप की गम्भीरता के आधार पर प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है । यह कथनीय है कि जिन अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया गया है, उन्हीं के पापों के लिए जिन प्रायश्चित्तों का उल्लेख किया गया है, वे भी मृत्युदण्ड के ही समान हैं क्योंकि इसमें मनुष्य आत्महत्या के लिए बाध्य हो जाता है ।

वशिष्ठ के अनुसार ब्रह्म-हत्या करने वाला, युद्धस्थल में शस्त्रधारियों का लक्ष्य बने अथवा अग्नि में गिरकर प्राण दे दे तो उसे पाप से मुक्ति मिल जाती है ।[63]

भगवान् मनु का कथन है कि ब्रह्मघाती वन में कुटिया बनाकर बारह वर्ष तक रहे और हाथ में नरमुण्ड लेकर भिक्षा माँगे तथा जो मिले उसी को खाकर अपना निर्वाह करे अथवा स्वेच्छा से स्वयं को जानकर शस्त्रधारियों का लक्ष्य बन जाय या जलती हुई अग्नि में नीचा सिर करके स्वयं को तीन बार झोंकने का प्रयत्न करे ।[64]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि प्रायश्चित्त कानून की सीमा में नहीं आते थे किन्तु उस समय के समाज में अपराधी की शुद्धि करने के लिए आवश्यक है ।

ध्यातव्य बात यहाँ यह है कि किसी एक प्रकार के दण्ड से दण्ड अपने सम्पूर्ण उद्देश्यों को प्राप्त कर ले यह सर्वथा असम्भव है । यथा - मृत्युदण्ड -

अवरोधक, निरोधक तथा आत्मशुद्धि करने वाला हो सकता है, किन्तु वह सुधारक किसी भी दशा में नहीं हो सकता है ।

प्रत्येक युग व प्रत्येक मनुष्य के लिए एक सर्वमान्य व सामान्य दण्ड-सिद्धान्त का अस्तित्व अत्यन्त कठिन है ।[65]

प्राचीन भारतीय समाज में दिये जाने वाले दण्ड तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप दिये जाते थे । एक ही दण्ड का प्रभाव भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न भिन्न पड़ता था । अतएव दण्ड विशिष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है । दण्ड देने के पहले अपराधी का अध्ययन किया जाता था । उसकी विगत सामाजिक स्थिति, शिक्षा, आयु, शक्ति, उद्देश्य कारण आदि पर पूर्णरूपेण विचार किया जाता था ।

सम्प्रति अब इस वर्तमान युग में भी संयुक्त सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जा रहा है । जिसमें दण्ड के उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों (उद्देश्यों, प्रयोजनों) का आवश्यकतानुसार समावेश रहता है । कुछ अमेरिकी राज्यों ने तो न्यायाधीशों से दण्ड देने के अधिकार के स्थान पर दण्डादेशीय बोर्ड का गठन किया है जिनमें मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ, प्रोवेशन अधिकारी तथा अन्य प्रकार के विशेषज्ञ सम्मिलित रहते हैं । न्यायाधीश केवल दोष सिद्धि पर ही निर्णय देते हैं तथा वह बोर्ड प्रत्येक अपराधी के लिए उचित दण्ड व्यवस्था करते हैं और इस प्रकार दण्ड विधान किया जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्ड के सभी उद्देश्यों का प्रमुख ध्येय (प्रयोजन)

अपराधी को अपराध न करने के लिए प्रेरित करके समाज एवं राष्ट्र के लिए एक स्वस्थ एवं कुशल नागरिक बनाना है ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. मनुस्मृति, 7/22.
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/5.
3. वही, 15/30.
4. गौतम0, 11/208.
5. मनुस्मृति, 7/20.
6. वही, 7/14-15.
7. कौटिलीयम अर्थशास्त्रम् , 1/4/13.
8. वही, 1/4/14.
9. मनुस्मृति, 9/288.
10. Kalipad Mitra : One the conventional methods of punishment and disgrace in Folklore, J.B.O.R.S. Vol. xx, 1934, pp. 82-83.
11. मृच्छकटिकम, दशमोऽङ्क: ।
12. वही ।
13. S. Varadachariar, The Hindu Judicial System, p.237.
14. मनुस्मृति, 8/334.
15. वृहस्पति0, 22/27-28.
16. मनुस्मृति, 8/368.

17. दण्डविवेक, पृष्ठ 295.

18. मनुस्मृति, 8/310.

19. विष्णु0, 5/71.

20. Quoted by Oppenheimer, Rationale of punishment,p.238.

21. गौतम0, 11/31.

22. याज्ञवल्क्य0, 1/361.

23. महाभारत, शान्तिपर्व, 21/15.

24. याज्ञवल्क्य0, 1/361 पर मिताक्षरा ।

25. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 1/4/16.

26. Varadachariar, J.J.S., p.213.

27. E. Barker, Political Thought in England, p. 50.

28. R.K. Chowdhary, 'Kautilya's Conception of Law and Justice, J.B.R.S., Vol. xxxv 11, March, June, 1951, p. 293.

29. डॉ0 हरिहरनाथ त्रिपाठी : प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, पृष्ठ 148.

30. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 2/36/47.

31. महाभारत, शान्तिपर्व, 165/14.

32. महाभारत, मोक्षधर्म, 167 पृष्ठ 1111 (रे का अंग्रेजी अनुवाद).

33. महात्मा गांधी के विचार

34. Salmond, Jurisprudence, p. 118.

35. Lee, Historical Jurisprudence, p. 375.

36. अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ 184.

37. Gour, The Penal Law of Indhl, Vol. 1.5

38. Stephen, History of Criminal Law, Vol. II, pp.81-82.

39. Salmond, Jurisprudence, p.118.

40. Quoted by Oppenheimer, Rationale of Punishment, p. 29.

41. ऋग्वेद, 10/33/9.

42. Gardiner, History of England, p. 32.

43. याज्ञवल्क्य0, 2/215, नारद0, 15, 16/25.

44. मनुस्मृति, 8/279 और 283.

45. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/19/8.

46. याज्ञवल्क्य0, 2/16.

47. नारद0, 1/46.

48. वृहस्पति0, 11/63.

49. कात्यायन0, 472.

50. दण्ड विवेक, पृ0-11.

51. मनुस्मृति, 8/318 पर कुल्लूक भट्ट की टीका.

52. Sen, Penology : Old and New, p. 123.

53. मनुस्मृति, 8/318.

54. वशिष्ठ0, 19/45, नारद0, परिशिष्ट 48.

55. महाभारत, शान्तिपर्व, 165/14.

56. याज्ञवल्क्य0, 3/257.

57. वही, 2/2576 पर मिताक्षरा टीका

58. Vardachariar, Hindu Judicial System, pp. 216-219.

59. मनुस्मृति, 11/44.

60. याज्ञवल्क्य0, 3/219.

61. मनुस्मृति, 11/45-46.

62. याज्ञवल्क्य0, 3/221.

63. वशिष्ठ0, 20/27, आपस्तम्ब0 1-9-25/11-12, गौतम0, 22/2-3-11.

64. मनुस्मृति, 11/72-73.

65. Crime and Repression, p. 50.

---------::0::---------

तृतीयोऽध्यायः

अपराध एवं उनके प्रकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी अनेक आवश्यकतायें होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सम्पत्ति आवश्यक है तथा सम्पत्ति ही विवाद को जन्म देती है। अपराध और उसकी ओर उन्मुखता का मानव के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन मान्यताओं के अनुसार मानव सृष्टि के प्रारम्भ में एक ऐसा भी युग था जब न तो अपराध होते थे और न किसी को किसी प्रकार के दण्ड दिये जाने की आवश्यकता ही थी क्योंकि आरम्भ में मनुष्य जंगली एवं बर्बर था तथा इस कारण उसकी कोई विशेष आवश्यकतायें नहीं थीं एवं न किसी प्रकार का विवाद ही था। वह प्रकृति से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता था। लेकिन ज्यों ज्यों वह सामाजिक होता गया त्यों त्यों उसकी आवश्यकतायें बढ़ती ही गयीं और सम्पत्ति के साथ मोह भी होता गया। मानव के सामूहिक एवं सामुदायिक जीवन को सुव्यवस्थित एवं संयमित रूप देने हेतु कतिपय नियमों की आवश्यकता हुयी, जो सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ मान्यता प्राप्त करते रहे और उसके बाद वे लिपिबद्ध भी किये गये। सामान्यतया इन्हीं नियमों का उल्लंघन करना ही अपराध कहा जा सकता है।

फिर हर एक व्यक्ति अपने निजी जीवन में स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द रहना पसन्द करता है। वह उसमें किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता है। यदि कोई व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप करता है तो ऐसे व्यक्ति को पीडा, क्लेश अथवा हानि हो सकती है। चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक अथवा साम्पत्तिक हो या प्रतिष्ठा सम्बन्धी ही हो। किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के

निजी जीवन, सम्पत्ति एवं अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और न ही कोई ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे उसको शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुँचे या सम्पत्ति सम्बन्धी कोई हानि कारित हो । इसके साथ ही उसे ऐसा कार्य करने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए जो दूसरे व्यक्ति के अधिकारों के न्यायोचित उपभोग के लिए आवश्यक हो यदि कोई व्यक्ति इसके विपरीत व्यवहार करता है तो यह कहा जायेगा कि उसने अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं किया है अर्थात् वह कर्त्तव्य-भंग का दोषी माना जायेगा इसे ही विधिक भाषा में हम 'अपराध' की संज्ञा दे सकते हैं ।

इस प्रसंग में यह भी बताना उचित होगा कि मनीषियों ने प्रारम्भ से ही इस प्रकार के उल्लंघनों को पाप एवं पातक की श्रेणियों में रखा है । मनुष्य के आत्मिक तत्व के बन्धनों को दृढ़ करने वाले कर्म, अधर्म अथवा पातक कहे गये हैं और ऐसे कर्मशास्त्र की अवज्ञा के फलस्वरूप होते हैं । वैसे तो याज्ञवल्क्य ने कहा है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पापों की ओर उन्मुख रहती है ।[1]

महाभारत में इस सम्बन्ध में पूरा एक अध्याय ही पाप कर्मों के प्रति प्रायश्चित्तों का उल्लेख करना है ।[2] फिर भी समाज में स्थिरता लाने और अपराधी को दण्डित करने हेतु राजधर्म की महिमा स्मृतियों और महाभारत के शान्तिपर्व में विशेष रूप से वर्णित है । सामाजिक रूप से यदि कोई व्यक्ति ऐसा कोई कार्य करता है जो समाज अथवा व्यक्ति विशेष के लिए हानिकारक हो तो उसकी गणना अपराध में होती है । आरम्भ से ही समाज को इस बात का पूर्ण अधिकार रहा है कि यदि कोई मनुष्य विधि विहित नियमों के विरुद्ध कोई कार्य

करे तो उसे दण्ड दिया जावे । दण्ड के पीछे यह भावना भी थी कि अन्य व्यक्ति वैसा कार्य न करे ।

प्रत्येक युग एवं प्रत्येक काल में मनुष्य सामाजिक प्राणी होते हुए भी अनेक प्रकार के समाज विरोधी कार्य करता है । इस प्रकार के कार्यों को मोटे रूप से दो भागों में विभक्त करके विवेचना की जा सकती है । जैसे - एक तो किसी मनुष्य के विरुद्ध एवं दूसरे राज्य के विरुद्ध । यदि इस प्रकार का कार्य व्यक्ति के विरुद्ध होता है तो उसकी गिनती दीवानी अपकारों में होती है और यदि ऐसा कार्य राज्य के नियमों के विरुद्ध होता है तो उसे हम अपराध कहते हैं । हत्या, चोरी, डकैती आदि ऐसे अपराध हैं, जिनमें राज्य स्वयं पीडित व्यक्ति की ओर से अपराधी व्यक्ति के पीछे पडकर उसके विरुद्ध कार्यवाही करता है । अति-प्राचीन काल से ही व्यवहार और दण्ड को जो दैवी स्वरूप प्रदान किया गया है वह इसी सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया है ।

'अपराध' शब्द जितना प्रचलित है उसकी कोई निश्चित परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है । इसकी अभी तक कोई एक सर्वसम्मत परिभाषा नहीं दी जा सकी है । मानव समाज एक गत्यात्मक एवं परिवर्तनीय संस्था है । समाज में परिवर्तन के साथ साथ अपराध की अवधारणा में भी परिवर्तन होता रहता है । बदलते हुए नैतिक मूल्यों, सामाजिक आवश्यकताओं एवं गतिशील काल चक्र के साथ साथ अपराधों के सम्बन्ध में भी मानवीय धारणाएँ परिवर्तित होती रही हैं, औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय समाज की तत्कालीन मान्यताओं पर निर्भर रहता है।

इस कारण अपराध की अवधारणा एक समाज से दूसरे समाज में एवं एक युग से दूसरे युग में परिवर्तित होती रहती है । अतएव सम्भव है कि जो कार्य प्राचीन भारत में अपराध न समझा जाता हो, उसे आज दण्डनीय अपराध माना जाता है । यथा - बहुविवाह प्राचीन भारत में अपराध नहीं समझा जाता था, किन्तु सम्प्रति आधुनिक भारत में हिन्दुओं के लिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 के अनुसार पति अथवा पत्नी के जीवन काल में पुन: विवाह करना दण्डनीय घोषित किया गया है ।

अस्पृश्यता, सती प्रथा, गर्भपात, दहेज प्रथा आदि के सम्बन्ध में बदलती हुयी धारणायें भी इसके प्रमाण हैं । इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि जो कार्य हमारे देश में आज दण्डनीय अपराध है वे दूसरे देश में मात्र नैतिक च्युति माने जाते हों । यथा - भारत में दण्ड संहिता की धारा 497 में पर-स्त्री गमन को एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है जबकि इंग्लैण्ड में यह मात्र नैतिक च्युति है । भिन्न भिन्न विधि शास्त्रियों ने अपराध की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ दी हैं । दण्ड विधि के पाश्चात्य साहित्य में भी अपराध की पूर्ण परिभाषा के प्रयास किये जाते रहे हैं जिनमें ब्लैक स्टोन, केनी, स्टीफेन आदि विद्वान् विशेष उल्लेखनीय हैं किन्तु इन विद्वानों ने अपराध की जो भी परिभाषाएँ दी हैं उनमें कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य ही हैं ।

ब्लैक स्टोन के अनुसार अपराध का अर्थ है, ऐसे लोक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का उल्लंघन करना जो सम्पूर्ण समाज अथवा समुदाय को एक समाज अथवा समुदाय के रूप में प्राप्त है ।[3] यह परिभाषा यह नहीं स्पष्ट करती कि सार्वजनिक

विधियों का उल्लंघन अपराध नहीं कहा जा सकता है । केनी के अनुसार अपराध उन अवैधानिक कार्यों को कहते हैं जिनके बदले में दण्ड दिया जाता है और वे क्षम्य नहीं होते । यदि क्षम्य होते भी हैं तो राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को क्षमा प्रदान करने का अधिकार नहीं होता है ।[4]

स्टीफेन का कथन है कि अपराध न केवल विधि का उल्लंघन है वरन् समाज की नैतिक मान्यताओं के प्रतिकूल भी होता है ।[5] विधि तथा नैतिक मान्यताओं की समानता भी केवल पारम्परिक रूप से गम्भीर अपराधों के लिए ही उचित कही जा सकती है, जैसे कि हत्या, बलात्कार, डकैती इत्यादि । भारतीय दण्ड संहिता तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता केवल अपराध का एक ही लक्षण स्पष्ट करती है कि जो भी कार्य दण्ड संहिता द्वारा दण्डित किया जाय उसे अपराध कहते हैं ।[6]

महान् विद्वान् रसेल ने अपना मत प्रकट करते हुए यह उचित ही कहा है कि अपराध की परिभाषा करना एक ऐसा कार्य है जिसे कोई भी विद्वान् सन्तोष प्रद रीति से नहीं कर पाया है । स्पष्टत: समाज में प्रभावी तथा शक्तिशाली वर्ग द्वारा समय समय पर अपनायी गयी आपराधिक नीति के अनुसार घोषित आचरण ही अपराधों की श्रेणी में सम्मिलित होते हैं ।[7]

अतएव कोई भी कार्य चाहे वह नैतिकता की दृष्टि से व्यक्तियों एवं धार्मिक दृष्टि से चाहे कितना भी अधिक समाज विरोधी क्यों न हो तब तक अपराध नहीं होता, जब तक उस देश का कानून उसे अपराध न माने । इसके

अतिरिक्त समाज में परिवर्तन के साथ अपने युग के जनमत से सदैव प्रभावित होने के कारण कानूनों में भी परिवर्तन आता है । अतएव देश के प्रचलित कानूनों का उल्लंघन ही अपराध कहलाता है ।

सदर लैण्ड के अनुसार अपराध वह आचरण होता है जिससे देश का कानून भंग होता है ।[8] टैफ्ट का विचार है कि कानूनी दृष्टि से अपराध वह कार्य है जिसके लिए कानून के द्वारा दण्ड प्राप्त होता है । अपराधी वह है जो ऐसे कानून के अन्तर्गत निषिद्ध किये कार्य को करता है ।[9]

काणे के अनुसार अपराध वह क्रिया अथवा अतिक्रम है जिससे कानून टूटता है और मनुष्य को दण्ड प्राप्त होता है किन्तु सभी प्रकार के व्यवहार भंग में दण्ड नहीं मिलता है केवल थोड़े ही ऐसे अपराध होते हैं जिनके अतिक्रम अथवा भंग होने पर समाज की प्रचलित दशाओं में गड़बड़ी उत्पन्न होती है । जिन्हें समाज राज्य या व्यवहार विधि से रोकना चाहता है उन्हें ही अपराध की संज्ञा दी जाती है।[10]

सेठना के विचार में अपराध का अर्थ किसी भी कार्य अथवा भूल से है जो पाप पूर्ण हो अथवा पापपूर्ण न हो, देश के विशिष्ट समय पर लागू कानून के अंतर्गत दण्डनीय माना गया है ।[11]

वर्धमान के अनुसार अपराध लोकोद्वेजक अर्थात् समाज में भय व दुश्चिन्ता उत्पन्न करने वाला होता है ।[12] डॉ० साधना शुक्ला के विचार में कानून के ऐसे अतिक्रमण जिनसे समाज का अस्तित्व संकट में पड़ जावे और जिनसे राज्य दण्ड द्वारा रक्षा करे, उसे अपराध कहते हैं ।[13]

यहाँ यह बताना समीचीन होगा कि आधुनिक विधि-सम्बन्धी साहित्य में अपराध की परिभाषा करने के इन पारम्परिक प्रयासों के स्थान पर इस बात पर बल दिया जा रहा है कि समाज में आपराधिक विधि द्वारा किन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। इसकी पुष्टि हाल में ही इंग्लैण्ड की दण्ड-विधि में किये गये संशोधनों से भी होती है। 1958 ई0 में संसद में लार्ड वॉल फेण्डन की अध्यक्षता में गठित समिति की रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया कि समाज में दण्ड विधि के निम्न कर्त्तव्य हैं :-

1. समाज में लोक-व्यवस्था, शान्ति एवं स्वच्छता बनाये रखना।
2. समाज के सदस्यों को हानिकारक तथा घातक कृत्यों से सुरक्षित रखना।
3. जनता को किसी अन्य के द्वारा शोषण एवं भ्रष्टाचार से सुरक्षित रखना विशेषकर उन लोगों को जो आर्थिक, शारीरिक अथवा व्यावसायिक रूप से दूसरों पर आश्रित हैं।

इस रिपोर्ट में यह भी स्पष्ट किया गया है कि समाज में दण्ड विधि का प्रयोग केवल उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया जाना चाहिए तथा किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों के व्यक्तिगत जीवन में आपराधिक विधि द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए तथा लोगों को किसी विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। रिपोर्ट ने यह भी स्वीकार किया कि इस पर मतभेद हो सकता है कि कौन से कार्य घातक एवं हानिकारक तथा जनहित के विपरीत घोषित किये जाने चाहिए तथा इस प्रश्न को समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक मान्यताओं के आधार पर किया

जाना चाहिए । इन्हीं मान्यताओं के बदलने से अपराधों का स्वरूप भी बदलता है ।

<u>अपराध के तत्त्व</u> :

अपराध की व्याख्या से ज्ञात होता है कि किसी कृत्य को अपराध घोषित करने के पहले उसमें निम्नलिखित सात तत्त्वों का होना आवश्यक है । यह मत हाल का है :-

1. कोई कार्य अपराध कहा जाय, इसके लिए आवश्यक है कि उसकार्य के द्वारा पर्याप्त क्षति होती है । वह क्षति चाहे सामूहिक हो या वैयक्तिक । केवल भावनात्मक अथवा मानसिक स्थिति ही पर्याप्त नहीं है । सामाजिक हितों को क्षति पहुँचाना अनिवार्य है ।

2. यह क्षति ऐसी हो जिसके करने पर उस देश की विधि, निषेध लगाए या उसे अपराध घोषित करे ।

3. अपराध के लिए आवश्यक है कि किसी प्रकार का व्यवहार अवश्य हो अत: जानबूझकर दिया गया अथवा लापरवाही से किया गया कोई कृत्य अथवा अकृत्य अवश्य हो, जिसके हानिप्रद परिणाम हों ।

4. उस कार्य को जानबूझ करने के लिए अपराधी इरादा अवश्य हो ।

5. उस अपराधी के इरादे और बाह्य क्रिया में एकरूपता अवश्य होनी चाहिए ।

6. कानून द्वारा निषिद्ध क्षति एवं ऐच्छिक दुराचार में कार्य-कारण का

सम्बन्ध अवश्य हो ।

7. उस कृत्य के लिए कानून द्वारा निर्धारित दण्ड की व्यवस्था भी हो ।[14]

अपराध का विकास :

प्रारम्भिक समाजों में भी दूसरों के हितों को समाप्त करने की क्रिया अनुचित एवं अवैधानिक समझी जाती रही है । वध एवं चोरी आदि शाश्वतरूप से सर्वत्र अनुचित माने गये हैं । प्रारम्भिक समाज में दैवी भावना का अधिक प्रभाव रहने से उचित अनुचित के फल का सम्बन्ध ईश्वर और सदाचार से जोड़ा गया । सदाचार की अवहेलना अपराध माना गया एवं सदाचार का उल्लंघन व्यक्ति, समाज या समुदाय का अपराध स्वीकार किया गया । ईश्वर नैतिकता का संरक्षक था और सभी देवता मानव कल्याण चाहते थे । अतएव मानवीय कल्याण के विपरीत किया गया कार्य दैवी इच्छा के विपरीत समझा गया । ऐसे कार्यों का सम्बन्ध समाज और देवता से सम्बद्ध होने से वे पाप और अपराध दोनों माने गये । इस समाज में धर्म, सदाचार और विधि के साथ ऐसा सम्बन्ध रहता है कि पाप एवं अपराध नैसर्गिक विधि, दैवी इच्छा और सामाजिक क्षति से सम्बद्ध रहते हैं । फलतः व्यक्ति द्वारा किया गया प्रयास सदाचार और विधि की मर्यादा स्थापित करने लगता है । उनका उल्लंघन अपराध कहा जाता है ।

प्रत्येक देश की दण्डापराध-विधि, विकास की अनेक अवस्थाओं से होकर मान्यता प्राप्त करती है । विकास के प्रथम चरण में अपराध का सम्बन्ध केवल

अपराधी एवं क्षतिग्रस्त के मध्य था । प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षा स्वयं करता था, उसे किसी तरह की हानि यदि पहुँचती थी तो वह स्वयं अपराधी को दण्डित करता था । दूसरी अवस्था तब आती है, जब सामूहिक अस्तित्व का विचार विकसित होता है । इसी के साथ साथ अपराध की अवधारणा में भी परिवर्तन आता है । एक व्यक्ति के अपराध को पूरे समूह अथवा कबीले के प्रति किया जाने वाला अपराध भी मान लिया गया, क्योंकि अपराध से सामूहिक अस्तित्व संकट में पड़ने लगा । इस स्थिति में भी दण्ड का कार्य क्षति-ग्रस्त व्यक्ति ही करता था। विकास की तीसरी अवस्था तब आयी, जब एक व्यक्ति को पीड़ा पहुँचने से पूरा समुदाय दु:खी हो गया । अतएव अपराधी क्षतिग्रस्त व्यक्ति की क्षतिपूर्ति तो करता ही था, साथ ही साथ उस समूह अथवा राज्य के प्रति क्षतिपूर्ति करता था । यहीं से अर्थदण्ड अथवा राज्य को दण्ड के रूप में दी गयी क्षतिपूर्ति का सर्वप्रथम प्रमाण मिलता है । चौथी एवं अन्तिम अवस्था उस समय आयी जब राज्य ने यह अनुभव किया कि राज्य में व्यवस्था बनाये रखना उसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । वह इतने ही सन्तुष्ट नहीं हो सका कि अपराधी उसके प्रति क्षतिपूर्ति करे । वरन् समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि वह न केवल अपराधियों को दण्डित करे, वरन् उन्हें पुन: वही कार्य करने से रोके ।

निगम के अनुसार अपराधियों को पकड़ने के लिए संगठित पुलिस एवं गुप्तचर विभाग की स्थापना की गयी । अपराधियों को दण्डित करने के लिए न्यायालयों की स्थापना की गयी ।[15]

अब हम यह देखते हैं कि भारतीय न्याय-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन काल से ही अपराधों को दीवानी एवं फौजदारी दो प्रकार में विभक्त करती है । कम से कम सूत्रकाल से इस प्रकार के विभाजन को स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं । गौतम के अनुसार व्यवहार दो प्रकार का होता है, अर्थात् धनमूल एवं हिंसामूल ।[16]

इस तरह इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्पत्ति के आधार पर अपराधों को दो वर्गों में रखा गया है । धर्मसूत्रोत्तर काल में - न्यायिक प्रक्रिया का उल्लेख व्यवहार के रूप में स्पष्ट मिलने लगा है । इसी के साथ साथ व्यवहारपदों का विस्तृत वर्णन भी किया गया है । काणे के अनुसार व्यवहारपद का अर्थ है, झगड़े, विवाद या मुकदमें का विषय ।[17]

काम, क्रोध, लोभ एवं मोह से विवाद उत्पन्न होता है । व्यवहार पदों की संख्या थोड़े बहुत अन्तर के साथ अट्ठारह बतायी गयी है । भगवान् मनु के अनुसार अट्ठारह विवाद निम्न प्रकार हैं । अट्ठारह मार्गों (व्यवहार पदों) में निबद्ध इन कार्यों का देशाचार और शास्त्रदृष्टि से प्राप्त हेतुओं के अनुसार अलग अलग विचार करना चाहिए । अट्ठारह मार्गों (पदों) में -

1. ऋणादान ।
2. निक्षेप (अपनी वस्तु को किसी के पास धरोहर रखना),
3. अस्वामिविक्रय (स्वामी के अनुमति के बिना वस्तु को बेंच देना),
4. सम्भूय समुत्थान (अनेक जनों द्वारा मिलकर साझे में व्यवसाय करना),
5. दत्तस्य अनपाकर्म (प्रदत्त वस्तु को पुन: ले लेना),

6. वेतन का न देना,

7. संविद् का व्यतिक्रम ‡कोई व्यवस्था किसी के साथ करके उसे पूरा न करना‡,

8. क्रय-विक्रय में अनुशय ‡किसी बात का फर्क पड़ना‡,

9. स्वामी और पशु-पालकों के मध्य विवाद,

10. ग्राम आदि की सीमा का विवाद,

11. वाक् पारूष्य ‡मानहानि अर्थात् अपमान तथा गाली-गलौज करना‡,

12. दण्ड पारूष्य ‡आक्रमण अर्थात् मारपीट करना‡,

13. स्तेय ‡चोरी‡,

14. साहस ‡डकैती, हत्या तथा अन्य प्रकार की हिंसा‡,

15. स्त्री-संग्रहण ‡व्यभिचार‡,

16. स्त्री-पुंधर्म,

17. विभाग, दाय भाग,

18. द्यूत और समाह्वय ‡जुआ और बाजी लगाना‡ ।[18]

याज्ञवल्क्य, नारद, कौटिल्य, वृहस्पति आदि ने भी नामों के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ अट्ठारह व्यवहारपदों का उल्लेख किया है । इन विवाद पदों को अट्ठारह बताने का यह तात्पर्य नहीं था कि इतनी ही संख्या निश्चित थी ।

आचार्य वृहस्पति ने इन अट्ठारह व्यवहार पदों का अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है । उनके अनुसार उत्पत्ति के आधार पर व्यवहार

दो प्रकार के होते हैं । यथा - अर्थमूल एवं हिंसामूल ।[19]

कात्यायन के विचार में विवाद दो कारणों से उत्पन्न होते हैं । यथा- जो देय है, उसे न देना तथा हिंसा ।[20] याज्ञवल्क्य ने अर्थ-विवाद का उल्लेख किया है ।[21]

अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अर्थ-सम्बन्धी विवादों को फौजदारी विवादों से अलग किया होगा । न्यायिक प्रशासन में दो मूलभूत सिद्धान्त क्रियाशील होते हैं । यथा अपने वादे पूर्ण करना और किसी को क्षति न पहुँचाना । इनके उल्लंघन से ही विवाद उत्पन्न होते हैं ।[22]

स्मृतिकारों ने भी इसी आधार पर विवादों को अर्थमूल एवं हिंसामूल बताया है । अर्थमूल विवाद लोभ से उत्पन्न होते हैं, जबकि हिंसामूल विवाद काम, क्रोध एवं मोह से उत्पन्न होते हैं । अर्थमूल विवाद चौदह प्रकार के हिंसा-मूल विवाद चार प्रकार के होते हैं । यथा -

1. वाक् पारुष्य,
2. दण्ड पारुष्य,
3. वध, एवम्
4. पर-स्त्री-संग्रहण ।

हीन, मध्यम तथा उत्तम के अनुसार इनके भी अनेक विभेद हो सकते हैं । नारद ने इनकी संख्या एक सौ बत्तीस (132) बतायी है ।

सरस्वती विलास के अनुसार ऋणादान से लेकर दाय विभाग तक समस्त

व्यवहार पदों में जो भाग प्रस्तुत रहता है, वह जब न्यायाधिक प्रक्रिया द्वारा सिद्ध हो जाता है तो दूसरे दल को उसे देना पड़ता है। इसके विपरीत वाक् पारुष्य, दण्ड पारुष्य, द्यूत एवं बाजी लगाने में प्रमुख माँग दण्ड-पूर्ति के रूप में होती है।[23]

स्मृति चन्द्रिका के अनुसार धन से उत्पन्न विवाद चौदह प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंसा से उत्पन्न विवाद चार प्रकार के होते हैं। बाद वाले में वाक् पारुष्य, दण्ड पारुष्य, साहस एवं पर-स्त्री-संग्रहण हैं।[24]

वर्धमान ने 'दण्ड-निमित्तानि' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक अपराधों का उल्लेख किया है, जिसमें दण्ड दिया जा सकता है। जो दीवानी अभियोगों से पूर्णरूपेण भिन्न है। यथा -

1. मनुष्य मारण,
2. स्तेय,
3. परदाराभिमर्शन एवं
4. दो प्रकार के पारुष्य एवं प्राकर्णिक।[25]

आचार्य कौटिल्य ने इन अभियोगों का विस्तृत वर्णन धर्मस्थीय एवं कण्टक-शोधन' नामक अध्यायों में किया है।[26]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही हमारे देश में विधि-शास्त्रियों ने दीवानी एवं फौजदारी विवादों में भेद किया है। यद्यपि यह वर्गीकरण आजकल के दीवानी एवं फौजदारी वर्गीकरण से पूर्णरूपेण तो नहीं मिलता

है, किन्तु जो लोग कहते हैं कि प्रारम्भिक हिन्दू-विधि में दीवानी और फौजदारी मामलों में कोई अन्तर नहीं है, वह उस उच्च आधार की अपेक्षा करते हैं, जिस पर हिन्दू न्यायविदों ने न्याय-प्रशासन को स्थिर किया था ।

हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने न केवल हिंसामूल तथा धनमूल विवादों में अन्तर किया वरन् उनकी कार्यवाही के प्रारम्भ करने में स्पष्ट अन्तर भी किया है ।

याज्ञवल्क्य ने व्यवहारपद की परिभाषा इस प्रकार दी है - यदि धर्म-शास्त्र और आचार के विरुद्ध दूसरों द्वारा पीड़ित होकर कोई व्यक्ति राजा से निवेदन करे तो हमारे विचार से वह व्यवहार का विषय होता है ।[27]

इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि व्यवहारपद के अन्तर्गत वे ही विवाद आते थे जो वादियों अथवा प्रतिवादियों द्वारा न्यायालय में लाये जाते थे । इससे स्पष्ट है कि राजा अथवा उसके कर्मचारी अपनी ओर से किसी व्यवहार में परिवर्तन नहीं कर सकते थे । भगवान् मनु का कथन है कि राजा अथवा उसका प्रतिनिधि स्वयं कोई विवाद न उत्पन्न करे और न धन के लोभवश किसी विवाद को समाप्त ही करे । जैसे - गिरे हुए रक्त की खोज से लुब्धक (बहेलिया) मृग के स्थान तक जा पहुँचता है, वैसे ही राजा प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान से धर्म-तत्त्व तक पहुँच जाता है । परन्तु यह निषेध गम्भीर अपराधों के लिए नहीं था।[28]

कात्यायन का भी कथन है कि यदि वादी अथवा प्रतिवादी न्यायालय में न आना चाहें तो राजा को अपने प्रभाव अथवा लोभ के कारण झगड़ों को

निपटाने के लिए सन्नद्ध नहीं होना चाहिए ।[29]

वरदाचारियर के अनुसार राजा इस नियम का पालन इसलिए नहीं करता था कि वह अपने कार्यभार को कम करना चाहता था । प्रत्युत् इस नियम का एकमात्र उद्देश्य यही था कि धन के लोभ से अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजा अथवा उसके कर्मचारी प्रजा को बाध्य न करें कि उनके आपसी व्यवहार में असामान्जस्य उत्पन्न होवे ।[30] ये इस प्रकार के ऐसे विषय थे जहाँ बिना अर्थी के आवेदन के भी न्यायिक कार्य हो सकता था ।

भगवान् मनु कहते हैं कि अन्न जल से परिपूर्ण देश का शास्त्र-विधि से पालन करने वाला राजा दुर्ग बनकर चोर आदि कण्टकों को हटाने का विशेष प्रयत्न करता रहे । प्रजा पालन में तत्पर राजा श्रेष्ठ आचरण वालों की रक्षा और दुष्टों का उचित निग्रह करने से स्वर्ग में जाते हैं ।[31]

कतिपय गम्भीर मामलों में राजा स्वयं मामले को उठा सकता था । कात्यायन का कहना है कि गम्भीर अपराधों में यथा - अपराध, पद, छल, प्राकीर्णक में राजा सूचक से सूचना प्राप्त करके मामले की छान-बीन कर सकता था ।[32]

पितामह के अनुसार ऐसे व्यवहारों में जहाँ राजा वादी और प्रतिवादी के आवेदन के बिना ही हस्तक्षेप कर सकता था । दस अपराध, बाइस पद एवं पच्चास छल कहे गये हैं ।[33] नारद के मत से दस अपराध निम्नलिखित हैं :-

1. राजा की आज्ञा का उल्लंघन,

2. स्त्री-वध,

3. वर्ण संकर,

4. पर-स्त्री गमन,

5. चौर्य,

6. बिना पति के गर्भ धारण,

7. वाक् पारुष्य,

8. अश्लीलता,

9. दण्ड, एवम्

10. पारुष्य एवं गर्भपात ।[34]

नारद ने इनमें से कुछ का उल्लेख प्राकीर्णक शीर्षक के अन्तर्गत किया है । जहाँ तक पदों का प्रश्न है, पितामह के अनुसार कतिपय पद निम्न प्रकार हैं :-

1. तीक्ष्ण हथियार से किसी पशु का शरीर विदीर्ण करना,

2. उपजाऊ कृषि का नाश करना,

3. अग्नि लगाना,

4. कुमारी कन्या के साथ बलात्कार करना,

5. गड़े हुए धन को पाकर छिपाना, एवम्

6. सेतु नष्ट करना आदि ।[35]

छलों की संख्या पच्चीस बतायी गयी है । अधिकांश छलों से तात्पर्य राजा के सामने असभ्य एवं अशिष्ट व्यवहार करने से हैं । कुछ छलों से न्यायालयों

की अवमानना एवं कुछ से राजद्रोह के अपराधों का ज्ञान होता है । इनके अति-रिक्त कुछ छल निम्न प्रकार हैं । यथा -

1. मार्ग-विरोध,
2. धमकी देते हुए हाथ उठाना,
3. दुर्ग की दीवारों पर बिना आज्ञा के कूदकर चढ़ जाना,
4. जलाशय नष्ट करना,
5. मन्दिर तोड़ना, एवम्
6. खाई बन्द करना आदि ।

हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने प्राकीर्णक शीर्षक के अन्तर्गत उन अपराधों को रखा, जिनमें राजा स्वयं अपनी ओर से मुकदमा ला सकता था ।

नारद ने अठारह व्यवहार पदों को सत्रह §17§ व्यवहार पदों में रखा और उनमें एक नवीन व्यवहार पद §प्राकीर्णक§ के नाम से जोड़ दिया है । नारद के विचार से वे सभी विषय जो अन्य व्यवहार पदों के अन्तर्गत नहीं आते हैं और जो राजा पर निर्भर हैं, वे प्राकीर्णक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं ।[36]

नारद के समान आचार्य वृहस्पति ने भी प्राकीर्णक की यही परिभाषा दी है ।[37] आचार्य कौटिल्य का कथन है कि इस सम्बन्ध में जिन विषयों के सम्बन्ध में कहना शेष रह गया है, उन विषयों को प्राकीर्णक कहते हैं ।[38]

'दण्ड विवेक' में वृहस्पति को प्रस्तुत करते हुए व्यवहार पदों को वादीकृत

कहा गया है एवं प्राकीर्णक को नृपाश्रय कहा गया है । प्राकीर्णक में राजा बिना किसी विशेष अर्थी के आवेदन के भी अपनी ओर से मामले की छानबीन कर सकता था ।[39]

अत: प्राकीर्णक अपराध इस दृष्टि से धनमूल अपराधों से भिन्न होते थे क्योंकि इसमें राजा स्वयं कार्यवाही कर सकता था । नारद ने प्राकीर्णक की एक लम्बी तालिका दी है । यथा -

1. राजा की आज्ञा का उल्लंघन,
2. पुर प्रदान,
3. प्रकृतियों (मन्त्रियों) आदि में परस्पर विभेद,
4. पाखण्डियों, नैगमों, श्रेणियों, गणों के धर्म एवं विपर्यय ।
5. पिता-पुत्र के झगडे,
6. प्रायश्चित्त में व्यतिक्रम,
7. सुपात्रों को दी गयी भेंटों का प्रतिग्रह,
8. श्रमणों का कोप, एवम्
9. वर्ण-संकर दोष आदि ।

इनके अतिरिक्त वे विषय जो पहले व्यवहार पदों की व्याख्या में छूट गये हों, सभी प्राकीर्णकमेंसम्मिलित हैं ।[40] आचार्य कौटिल्य ने प्राकीर्णक के अन्तर्गत कुछ अन्य अपराधों को भी रखा है । यथा -

1. उधार ली गयी वस्तु को न लौटाना,

2. ब्राह्मण होने के बहाने घाट का किराया न देना,
3. दूसरे की पत्नी से सम्बन्ध रखना,
4. कर एकत्र कर स्वयं हड़प लेना,
5. चाण्डाल का आर्य-नारी को दूषित करना,
6. देवों एवं पितरों के सम्मान में किये गये भोज में बौद्ध आजीवक अथवा शूद्र-साधु का निमन्त्रण करना,
7. गम्भीर पाप करने पर भी माता, पिता, बच्चे, पत्नी अथवा पति, भाई अथवा बहन, गुरु अथवा शिष्य को त्याग देना, एवम्
8. किसी को अवैधानिक रूप से बन्दी बनाना आदि ।[41]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कतिपय अपराधों में राजा स्वयं एक पक्ष होता था ।

यहाँ यह बात कथनीय है कि जिन अपराधों का उल्लेख प्राकीर्णक शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है, उन्हें वर्तमान युग में भी निगृह्णीय अपराध के अन्तर्गत रखा गया है । ऐसे गम्भीर अपराध जो समाज में असुरक्षा एवं भय उत्पन्न करता है, उन्हें अपराधीय-विधि क्षतिग्रस्त व्यक्ति की इच्छा पर नहीं छोड़ती है कि वह मुकदमा लाये अथवा न लाये ।

महाकवि शूद्रक द्वारा लिखित नाटक मृच्छकटिकम् में इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण मिलता है कि हत्या जैसे गम्भीर अपराध में मृतक के सम्बन्धी ही नहीं, वरन् कोई भी व्यक्ति मुकदमा ला सकता था । इसमें राजा का साला संस्थानक वसन्तसेना की हत्या का आरोप नगर के विख्यात व्यापारी चारुदत्त

पर लगाता है । यद्यपि संस्थानक वसन्त सेना का सम्बन्धी नहीं है, तथापि इस अपराध के लिए न्यायिक प्रक्रिया की प्रार्थना वह समाज का एक सदस्य होने के नाते करता है । वसन्तसेना की माता न्यायाधीशों से मुकदमा हटाने को कहती है । यथा - वृद्धा - आर्यजन कृपा कीजिए, कृपा कीजिए । तब यदि मेरी पुत्री मारी गयी, तो मारी गयी । मेरा यह दीर्घायु [चारुदत्त] जीवित रहे। इसके अतिरिक्त वादी और प्रतिवादी का व्यवहार है । मैं वादिनी हूँ । अतः इसको [चारुदत्त] छोड़ दो । किन्तु वसन्तसेना की माता को वहाँ से हटा दिया जाता है और मुकदमा पूर्ववत् चलता रहता है ।[42]

इस प्रकार कुछ गम्भीर अपराधों में राजा अथवा राजकर्मचारियों का हस्तक्षेप आवश्यक था । इसके अतिरिक्त राजा ऐसे लोगों का विवाद प्रस्तुत कर सकता था जो स्वयं न्यायालय में आकर अपना वाद प्रस्तुत करने में असमर्थ थे ।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार धर्मस्थ अधिकारी स्वयं दुःख निवेदनार्थ उपस्थित न होने वाले देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बाल, वृद्ध, व्याधित एवं अनाथों के कार्य सम्पन्न कर दें । देश, काल एवं भोग के छल [व्याज] से उनका द्रव्य हरण न करें [या उन्हें पीडित न करें] ।[43]

आचार्य वृहस्पति का कथन है कि वृद्धों, स्त्रियों, बालकों तथा रोगियों आदि के लिए प्रतिनिधि के द्वारा वाद प्रस्तुत किया जाय ।[44]

इस विषय में भगवान् मनु का कथन है कि राजा अवयस्क के पैतृक भाग तथा धन की रक्षा तब तक करे जब तक वह वेदाध्ययन पूर्ण करके गुरुकुल से लौट न

आवे । वन्ध्या, पुत्रहीना, अनाथा, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी नारी के धन की रक्षा भी राजा अवयस्क के समान ही करे । यदि जीवित स्त्रियों का धन उनके बान्धवादि ले लेवें तो धार्मिक राजा उन्हें वही दण्ड दे जो चोर को दिया जाता है । स्वामी रहित धन को राजा तीन वर्ष तक धरोहर के समान अपने पास रखे, इस अवधि में उस धन का अधिकारी आ जाय तो उसे दे देवे अन्यथा स्वयं ले लेवे ।[45]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति कुल की प्रतिष्ठा बचाने के लिए व्यभिचारी को चोर-चोर कहकर भाग जाने दे तो, उससे पाँच सौ पण का दण्ड लेना चाहिए और यदि वह उससे उत्कोच के रूप में धन लेकर उसे छोड़ दे तो इसका आठ गुना दण्ड लेना चाहिए ।[46]

मिताक्षरा का अभिमत है कि वह व्यक्ति जो व्यभिचारी पुरुष से धन ग्रहण करता है तो प्राप्त करने वाला (प्राप्तक) उस प्राप्त धन का आठ गुना दण्ड के रूप में देने के लिए बाध्य है ।[47] मनु, नारद आदि स्मृतिकारों के साक्ष्य सम्बन्धी नियमों को देखने से भी गम्भीर अपराधों का दीवानी मामलों से भेद स्पष्ट होता है ।

भगवान् मनु कहते हैं कि साहसिक (डकैती) कार्य, चोरी, स्त्री के संग्रहण तथा वचन और दण्ड की कठोरता में गवाह की परीक्षा आवश्यक नहीं होती है।[48]

अतएव गम्भीर अपराधों में कोई भी व्यक्ति साक्ष्य दे सकता था । इन्हीं अपराधों पर विशेष बल देते हुए भगवान् मनु आग्रह करते हुए कहते हैं कि जिस राजा

के राज्य में चोर, पर-स्त्री संभोग करने वाला, कठोर वचन बोलने वाला, गृह-दाह आदि साहसिक कर्म करने वाला तथा कठोर दण्ड करने वाला पुरुष नहीं है, वह राजा स्वर्ग गमन करता है । इन पाँचों का अपने राज्य में निग्रह करने वाला राजा समान जातीय राजाओं में साम्राज्य करने वाला तथा इस लोक में यशस्वी होता है ।[49]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रों में व्यवहार विधि और दण्डापराध विधि में स्पष्ट भेद कर दिया गया है । यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि स्मृतियों में अर्थमूल व हिंसामूल व्यवहार पदों के अवलोकन के लिए पृथक-पृथक न्यायालयों का उल्लेख नहीं किया गया है । आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अवश्य दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख प्राप्त होता है । यह है धर्मस्थीय एवं कंटक शोधन । सम्भवत: बाद में इसी विभाजन को स्वीकार कर लिया गया था । चोल-काल के कुछ दक्षिण भारतीय अभिलेखों में भी इस विभाजन का वर्णन मिलता है, परन्तु यह विभाजन आधुनिक युग के दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों से पूर्णरूप से नहीं मिलता है । दोनों प्रकार के अभियोगों में न्यायालय में की जाने वाली कार्यवाही समान थी । प्रक्रिया एवं न्यायालयों में उक्त समानता में होते हुए भी प्राचीन हिन्दू-न्याय-व्यवस्था में दीवानी मामलों एवं अपराधों में मूलभूत अन्तर स्पष्टतया स्वीकृत हो गया था ।

<u>अपराध तथा पाप अथवा पातक :</u>

प्राचीन भारत में अपराध की अवधारणा को उचित रूप से समझने के लिए

आवश्यक है कि हम यह देखें कि अपराध का पाप अथवा पातक से क्या सम्बन्ध था। काणे के अनुसार पाप या पातक ऐसा शब्द है जिसका आचार शास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बन्ध है । सामान्यतया ऐसा कहा जा सकता है कि यह मेरा ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार ﴾कानून﴿ के उल्लंघन अथवा जानबूझकर उसके निरोध करने से उद्भूत होता है । यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में अभिव्यक्त रहती है अथवा यह उस ग्रन्थ में पाये जाने वाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है ।[50]

प्राचीन भारतीय दण्ड शास्त्र अपराध एवं पाप में एक तारतम्य स्थापित करता है क्योंकि कानून ही धर्म था अत: समाज विरोधी आचरण जहाँ विधि का उल्लंघन करने के कारण अपराध था वहीं धर्म के विरुद्ध होने के कारण पाप अथवा पातक है । हिन्दू विधि ग्रन्थों में अपराध एवं पाप के मध्य स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना सम्भव नहीं है क्योंकि अपराध से मनुष्य की मुक्ति दण्ड एवं प्रायश्चित्त दोनों के द्वारा ही होती थी । यह हिन्दुओं की मूलभूत धार्मिक तथा सामाजिक अवधारणाओं का परिणाम है । प्राचीन भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन का मुख्य प्रयोजन मोक्ष को पर्याप्त बताया । दण्ड से उसके अपराध की मुक्ति होती है और प्रायश्चित्त उसे पवित्र कर मोक्ष का अधिकारी बनाता है ।

हिन्दू विचारधारा पारलौकिक लक्ष्य को सदैव दृष्टि में रखकर जीवन व्यतीत करने को कहती है । कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू धर्म का आधार है । स्मृतियों के अनुसार किया हुआ कर्म कभी भी निष्फल नहीं होता है ।

भगवान् मनु के अनुसार यदि अधर्म (पाप) का फल स्वयं अधर्म करने वाले को नहीं मिलता तो पुत्रों को मिलता है और यदि पुत्रों को नहीं मिलता तो पौत्रों को अवश्य मिलता है क्योंकि किया अधर्म कभी निष्फल नहीं होता है ।[51] अपने कर्मों का फल मनुष्य न केवल इसी जन्म में भोगता है वरन् किये गये कर्म के आधार पर ही मनुष्य का पुनर्जन्म माना गया है ।[52] इसी से अच्छे कर्म पर बल दिया गया है किन्तु मनुष्य अपने स्वभाव के कारण इन कर्मों से विमुख होता है और पाप पूर्ण कर्म में निरत रहता है ।

पाप अथवा पातक ऐसे कर्म हैं जिन्हें शास्त्र वर्जित करता है । भगवान् मनु का कथन है कि शास्त्र-सम्मत कर्म को न करने वाला शास्त्र द्वारा निन्दित कर्म करने वाला इन्द्रियों के विषय में आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है ।[54]

याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि जो नित्य अथवा नैमित्तिक कर्म विहित है, उसके न करने से, निन्दित कर्म करने से तथा इन्द्रियों का संयम न रखने से मनुष्य पतित होता है । इस पतन के प्रतिकार के लिए मनुष्य को प्रायश्चित्त करना चाहिए ।[55]

मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह परमावश्यक है कि मनुष्य अपने पाप के लिए प्रायश्चित्त करे । धर्म-शास्त्रों में अपराध और पाप का मिश्रित रूप प्राप्त होता है । हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने अपराध और पाप के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है । यथा - पाप, अनस, अघ, अशुभ, कल्मष, अधर्म, किल्विष, दोष, हिंसा,

अपराध, अपकार, पातक आदि ।[56] यहाँ यह बात विशेष वर्णनीय है कि पाप एवं अपराध का मिश्रित रूप मात्र प्राचीन भारतीय विधि की विशेषता नहीं है।[57]

भगवान् मनु तथा याज्ञवल्क्य दो प्रकार के पातकों का उल्लेख करते हैं । 1. महापातक एवम् 2. उपपातक । महापातक कुल पाँच प्रकार के होते हैं । भगवान् मनु के अनुसार महापातक निम्नलिखित हैं :-

1. ब्रह्म हत्या,
2. मद्यपान,
3. चोरी,
4. गुरुपत्नी के साथ संभोग, एवम्
5. उपर्युक्त चार पातकियों के संसर्ग से भी पातक लगता है ।[58]

इनके अतिरिक्त निरुक्तकार यास्क के अनुसार सात महापातक होते हैं । यथा -

1. स्तेय (चोरी),
2. परस्त्री गमन,
3. वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या,
4. भ्रूण-हत्या,
5. सुरापान,
6. निन्दित कर्म को पुन:पुन: करना, एवम्
7. पाप करने पर उसे छिपाने के लिए झूँठ बोलना ।[59]

जायसवाल, निरुक्त के आधार पर महापातकों की संख्या में आये हुए अन्तर को स्पष्ट करते हैं। जो चतुर्थ शती ई०पू० में केवल चार रह गये थे -

1. स्तेय,
2. मनुष्य-मारण,
3. गुरुपत्नी-गमन, एवम्
4. सुरापान ।[60]

उपर्युक्त पाँच महापातकों के अतिरिक्त कतिपय पातक ऐसे भी होते हैं जो इन पाँचों के समान होते हैं। भगवान् मनु के अनुसार जाति-श्रेष्ठता के लिए मिथ्याभाषण, राजा से चुगलखोरी, गुरू से असत्य कहना, ब्रह्महत्या, पढ़े हुए वेद का अभ्यास न करना, उसका विस्मरण अथवा निन्दा करना, गवाही में असत्य कहना, मित्र की हत्या, गर्हित तथा अभक्ष्य पदार्थों का भोजन सुरापान के समान, धरोहर को हड़पने वाला और मनुष्य (दास-दासी), घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि, मुक्ता चुराने के समान, सगी बहन, कुमारी, चाण्डाली, मित्र तथा पुत्र की स्त्री के साथ सम्भोग करने के समान है ।[61]

याज्ञवल्क्य भी मनु के समान इन्हीं पाँच प्रकार के महापातकों के समान अन्य पातकों का उल्लेख करते हैं ।[62]

हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने उपपातकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। भगवान् मनु के अनुसार गोवध, अयाज्य-याजन, परस्त्रीगमन, आत्म-विक्रय, गुरु, माता और पिता का परित्याग, ब्रह्म-यज्ञ, स्मार्त्त, अग्नि और पुत्र का त्याग,

परिविति तथा परिवेत्ता को कन्यादान देना तथा उन्हें यज्ञ कराना, कन्या-दूषण, सूद लेना (ब्याज पर रूपया देना), व्रत को नष्ट करना, तड़ाग, उद्यान, स्त्री और सन्तान को बेंचना, व्रात्य-भाव, बान्धवों का त्याग, वेतन लेकर पढ़ाना, न बेंचने योग्य सौदों को बेंचना, सब आकरों में राजाज्ञा से अधिकार लेना, बड़े-बड़े यन्त्रों को चलाना, औषधियों की हिंसा, स्त्री की कमाई खाना, अभिचार कर्म करना, वशीकरण, ईंधन-हेतु हरे पेड़ों को काटना, अपने लिए क्रियारम्भ करना, निन्दित पदार्थों को इच्छानुसार खाना, अधिकार होने पर भी यज्ञ न करना, चोरी करना, ऋण न चुकाना, निन्दित-शास्त्रों का पठन और कुशीलव का कर्म करना, मद्यपान करने वाली द्विज-स्त्री से सम्भोग करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय का वध करना एवं नास्तिकता ये समस्त उपपातक होते हैं ।[63]

याज्ञवल्क्य ने इससे अधिक उपपातकों की गणना किया है । कई उप-पातक दोनों के ग्रन्थों में समान हैं किन्तु कुछ अन्य उपपातकों का भी उल्लेख याज्ञवल्क्य करते हैं । यथा - अग्निहोत्र न करना, स्वाध्याय का त्याग, घातक हथियार बनाना, व्यसन (मृगया आदि), शूद्र की सेवा, नीच व्यक्ति से मित्रता, किसी आश्रम में न रहना, दूसरे के अन्न से जीवन चलाना आदि ।[64]

प्रायश्चित्तों के विषय में भगवान् मनु का कहना है कि पण्डितजन अनिच्छा से किये हुए पाप का प्रायश्चित्त होना मानते हैं, एवं अन्य विद्वानों के मत में श्रुति के अनुसार इच्छा से किये हुए पाप का ही प्रायश्चित्त किया जाता है बताते हैं । अनिच्छा से किया हुआ पाप वेदपाठ से शुद्ध होता है और इच्छा से किये गये पाप का शोधन विभिन्न प्रायश्चित्तों से हो सकता है ।[65]

इसी प्रकार अपराध एवं पाप के सम्बन्ध में की जाने वाली न्यायिक प्रक्रिया में भी कोई भेद नहीं था । अपराध अथवा पातक से मुक्ति के लिए आवश्यक है कि अपराधी को दण्ड एवं प्रायश्चित्त दोनों ही प्राप्त होवें । हत्या, व्यभिचार, अप्राकृतिक यौन-अपराध, भ्रूण-हत्या, अपहरण, स्त्री एवं बच्चों का अपहरण, पशुओं की हिंसा के प्रति क्रूरता, कूट-साक्ष्य, किसी भी प्रकार की चोरी इन सभी के लिए दण्ड के साथ-साथ प्रायश्चित्तों का भी विधान है ।

भगवान् मनु के अनुसार दण्ड देने का अधिकार जहाँ राजा एवं न्याया-धीशों में निहित था वहीं प्रायश्चित्त तीन या चार सदस्यों की एक समिति देती थी ।[66]

पाराशर का कथन है कि प्रायश्चित्त राजा की अनुमति में रहकर बतलाया जाय । छोटा प्रायश्चित्त अनुमति के बिना भी किया जा सकता है, परन्तु ब्राह्मणों के (परिषद्) द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का उल्लंघन कर राजा स्वयं प्रायश्चित्त देने को कहता है, तो राजा पर उस पाप का सौ गुना पाप लगता है ।[67]

इस प्रकार राजा के ऊपर प्रायश्चित्त तथा दण्ड दोनों को ही देने का उत्तरदायित्व था, क्योंकि समाज की सामाजिक तथा नैतिक दोनों ही व्यवस्थायें बनाये रखना उसका कर्त्तव्य था ।

अपराधों के प्रकार :

प्रारम्भ के समाजों में सदाचार एवं धर्म का उल्लंघन लौकिक तथा पारलौकिक

अपराध था । उसके साथ ही साथ स्वाभाविक प्रतिशोध का शनैः शनैः विकास हो रहा था । आहत, वध आदि यदि जानकारी में किये गये हैं का दण्ड समान रूप से पाया जाता है । आत्मरक्षा में वध का भी अपराध दण्ड के योग्य माना जाता है किन्तु हत्या के समान नहीं होता है । सुनियोजित एवं सुविचारित अपराध और प्रमाद अथवा आवेश में किये गये अपराध में भेद किया जा रहा था। कुछ जातियों §कबीलों§ में यह नियम था कि अपने जाति के सदस्य की हत्या या चोरी अपराध था किन्तु अन्य जाति के व्यक्ति के साथ यही कार्य अपराध नहीं माना जाता था । कहीं-कहीं तो इसे गुण माना जाता था । प्रधानों द्वारा हुए अपराध का दण्ड सामान्य था । उनके विरुद्ध वे ही अपराधी कठोर दण्ड के भागी हो जाते थे । मनुष्य के स्तर से अपराध और दण्ड के स्तर में भी भेद हो जाता था । सभ्य समाजों में भी इस विचारधारा का विस्तार होता गया, यही नहीं पहली बार किये गये अपराध और उसको दुबारा करने में भेद किया गया । प्रथम बार किये गये अपराध का सामान्य दण्ड था किन्तु आवृत्तिमूलक §पुनः किये गये§ अपराधों के दण्ड कठोर थे । कहीं-कहीं इस अवस्था में देश-निष्कासन या मृत्युदण्ड तक दिया जाता था ।

भारत की न्यायपालिकाओं में उक्त कथित-सिद्धान्त कार्यरूप में दृष्टि-गोचर होते हैं । इनका बीजारोपण वैदिक काल से हो जाता है । धर्मसूत्रों एवं उनके उत्तरवर्ती काल तक इनका स्पष्टीकरण होता है । वेदों एवं धर्मसूत्रों में विकसित होने वाले महापातकों को धर्मशास्त्रों में स्वीकार किया गया है । उनमें दण्डपारुष्य, वाक्पारुष्य, स्त्री-संग्रहण आदि परिगणन के प्रकार स्वीकार किये

गये । लेकिन उन्हें नये रूप में परिगणित किया गया । इनके अतिरिक्त अपराधों की विशाल सूची भी प्रस्तुत की गयी । इस प्रकार के प्रकारों को प्रस्तुत करने के पूर्व इन प्रकारों के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है ।

वैदिक काल :

वैदिक काल में क्षतिपूर्ति 'वैरदेय' के रूप में प्रस्तुत की गयी है । ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर दो व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े का उदाहरण मिलता है। जो धन देकर शान्त किया जाता है ।[68] ऋग्वेद में धन के लिए नृम्नम्, क्षत्रम्, रधम्, ब्रह्म और वृत्रम् शब्द का प्रयोग किया गया है ।[69] नृम्नम् उस धन को कहते हैं जिससे शत्रु, मित्र बनाया जा सके । क्षत्रम् उस धन के लिए प्रयुक्त है जिससे व्यक्ति अवैधानिक कार्य से मुक्त हो सके । रधम् से वैधानिक कार्य होता है । ब्रह्म से धर्म-वृद्धि होती है । वृत्रम् से राजदण्ड से मुक्ति हो जाती है । धन के इस विभाजन से यह ज्ञात होता है कि जुर्माना का बीजारोपण हो रहा था तथा वैर-देय से राज्य का सम्बन्ध हो चुका था । इस समय में चोर को राजा के सामने ले आने का भी उदाहरण मिलता है, किन्तु अपराध के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है । आंगिक दोष (गन्दे दाँत, नाखून आदि), ज्येष्ठ अविवाहित बहन के रहते स्वयं विवाह कर लेना, दोनों मृत्युदण्ड के समान अपराध थे । सर्वाधिक निन्दनीय अपराध ब्राह्मण की हत्या थी । तैत्तिरीय ब्राह्मण, ब्राह्मण की हत्या को ही वास्तविक हत्या मानता है ।[70]

धन सम्बन्धी अपराध पर भी विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है । ऋण आदि के अपराध थे एवं उनमें ऋण वापस न करने पर दासता के भी प्रमाण मिलते हैं ।[71]

धर्मसूत्रों का काल :

धर्मसूत्रों में अपराधों का स्पष्ट वर्गीकरण हो जाता है। जिन अपराधों का वर्गीकरण नहीं हो पाया उनका सूत्रपात अवश्यमेव हो गया था। इस वर्गीकरण पर उस समय का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। गौतम संहिता में कहा गया है कि यजन के अयोग्य का यजन, न भक्षण योग्य का भक्षण, अनुचित वाणी का प्रयोग, शिष्ट क्रिया का उल्लंघन और निषिद्ध वस्तु का सेवन करना आदि पतित होने के कारण है।[72] पिता का भी त्याग करना चाहिए, यदि वह राजघातक शूद्रों को यज्ञ कराने वाला, अपनी ओर से शूद्रों के लिए यज्ञ करने वाला, वेद के प्रति विप्लवी, गर्भघाती, नीचवर्ण एवं नीचवर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करने वाला है, तो त्याग हो सकता है।[73]

अपराध की इस सूची पर राज्य वेद और वर्ग का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पडता है। गौतम संहिता के अनुसार नास्तिक को, ब्रह्म हत्यारे, शराब पीने वाले, गुरू की स्त्री एवं माता-पिता के सम्बन्धी के साथ भोग करने वाले के साथ रखा गया।[74] अन्यत्र हीन वर्ण की सेवा, भ्रूण हत्या के समान अपराध माना गया है।[75]

धर्मसूत्रों में स्थिर अपराधों की सूची का विस्तार स्मृतियों और परवर्ती साहित्य में होता है। इस समय अपराध की विशिष्ट व्याख्या होती है। अपराधों के इस वर्गीकरण पर भी देश एवं काल का व्यापक प्रभाव प्रकट होता है। इस समय के वर्गीकरण में अपराधों की इतनी विस्तृत सूची प्रस्तुत होती है कि उन

सबको एक स्थान पर संग्रहीत करना विस्तार की अपेक्षा करता है । अतएव कुछ मुख्य मुख्य अपराधों का ही प्रस्तुतीकरण सम्भव है ।

धर्मसूत्रोत्तर काल :

इस समय देश में बौद्ध क्रान्ति का प्रभाव दण्ड एवं अपराध पर प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त होता है । मनु, याज्ञवल्क्य एवं कौटिल्य के विचार उनकी पृष्ठभूमि में स्पष्ट होते हैं । भगवान् मनु के विधान में धार्मिक प्रतिक्रिया का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यक्त होता है । याज्ञवल्क्य ने इस समस्या के प्रभाव को अवश्य स्वीकार किया किन्तु किसी अन्य विवाद में न पडकर उन्होंने समस्या का समाधान प्राचीन विधान की आधारशिला पर किया परिणामत: मनु की अपेक्षा उनमें एवं कौटिल्य में वर्गवादी या जातीय तत्त्व अधिक क्रियाशील नहीं होते हैं । बौद्ध परम्परा में अश्वघोष ने जातीय तत्वों पर आधारित न्याय-व्यवस्था पर प्रहार किया था किन्तु उनमें और याज्ञवल्क्य में अन्तर यह है कि याज्ञवल्क्य उपदेशक एवं वैदिक परम्परा विरोधी होने के स्थान पर विधायक और वैदिक परम्परावादी थे । अतएव उनके विचारों का महत्त्व वैदिक समाज पर अधिक व्यापक रूप में पड़ा ।

दण्डापराध विधि के विषय में भगवान् मनु, याज्ञवल्क्य और कौटिल्य के विचार, धर्मसूत्रों एवं बौद्ध क्रान्ति के बाद होने वाले परिवर्तन और परिणाम अत्यधिक स्पष्ट करते हैं ।

वाक्पारुष्य के दण्ड विधान में भगवान् मनु ने जातीय तत्व पर निर्भर

किया है जबकि याज्ञवल्क्य एवं आचार्य कौटिल्य सामान्य मानवीय आधार पर दण्ड का विधान किया है ।[76]

भगवान् मनु ने जातीय आधार स्वीकार करते हुए इसके साथ जो व्यक्ति अहंकार वश किसी की विद्या, देश, जाति एवं कार्य को कहे तो उसे दोषारोपण से एवं काने, लंगड़े अथवा किसी अन्य को काना आदि कहकर चिढ़ाने वाले पर एक कार्षापण दण्ड का विधान किया है ।[77]

हीन, अनुलोम एवं प्रतिलोम के सम्बन्ध में दोनों विचारक (मनु एवं कौटिल्य) अत्यधिक सन्निकट हैं । भेद यह है कि धर्मोपदेशक शूद्र के प्रति मनु अत्यधिक उग्र प्रतीत होते हैं । ब्राह्मण की समानता करने वाले एवं बौद्ध धर्माव-लम्बी बौद्ध शूद्रों को उग्रतम दण्ड मनु को अभिमत रहा है । याज्ञवल्क्य एवं कौटिल्य इस प्रभाव से विशेष प्रभावित प्रतीत नहीं होते हैं । वे कुत्सा में जाति को महत्त्व नहीं देते हैं । जब राज्य की कुत्सा की गयी हो । अपशब्दों के प्रयोग में मनु ने ब्राह्मण, राजा एवं देवता को प्राथमिकता दिया है और आचार्य कौटिल्य ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीय संगठन को प्राथमिकता प्रदान किया है ।[78]

मनु के समक्ष ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, राजा के दैवी स्वत्व की स्थापना एवं देशभक्त की प्रतिष्ठा के माध्यम से बौद्ध शक्ति को पराभूत एवं समाज से अस्तित्व विहीन करना था । आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र की परम्परा से आते हैं और उनके सम्मुख मुख्य प्रश्न राष्ट्र के एकीकरण का था ।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आचार्य कौटिल्य दण्डापराध विधि

में जातीय तत्व को स्वीकार ही नहीं करते। दण्ड पारुष्य के सन्दर्भ में आचार्य कौटिल्य ने भी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार किया है। उनके अनुसार शूद्र जिस अंग से ब्राह्मण को अभिहत करे उसका (शूद्र का) वह अङ्ग छिन्न कर दिया जाय।[79]

याज्ञवल्क्य ने इस अंश को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने जाति के स्थान पर अब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है।[80] वैदिक धर्म विरोधी शूद्रों एवं आजीवकों के प्रति याज्ञवल्क्य एवं कौटिल्य भी मनु एवं पूर्व परम्परा का ही प्रबल समर्थन करते हैं।[81]

अवैदिक समाज के अपराध के प्रति सभी विचारक एक ही पृष्ठभूमि पर स्थिर होकर विचार एवं चिन्तन करते हैं। अतिप्राचीन काल से ही मानव समाज में समाज के विरुद्ध आचरण होता रहा है, जिसे हम सब अपराध की संज्ञा से अभिहित करते रहे हैं। समाज किसी भी परिस्थिति में ऐसे असामाजिक, अलोकतान्त्रिक एवं आततायी व्यवहार को सहन नहीं कर सकता है। अतएव इसी कारण से अपराधियों को दण्डित करना अनिवार्य हो गया एवं उन्हें दण्डित किया जाने लगा।

प्राचीन भारतीय-विधि-वेत्ताओं ने अपराधों का वर्णन मुख्य रूप से निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया है :-

1. वाक् पारुष्य,
2. दण्ड पारुष्य,

3. स्तेय,

4. साहस,

5. स्त्री संग्रहण, एवम्

6. प्राकीर्णक के अन्तर्गत कुछ अपराध ।

अब हम इस प्रकार यह देखते हैं कि वैदिक काल से स्मृतिकाल तक के विशद विश्लेषण से अपराधों के कारणों एवं प्रकारों के सार्वभौम अध्ययन पर बल दिया गया है । उस समय जितनी सामग्री उपलब्ध हुई उन सबका समुचित प्रयोग हुआ, कारणों के मूल में जाने पर अपराध-विज्ञों ने वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों पक्षों पर विशेष ध्यान दिया है लेकिन उस काल में मानव का व्यक्तित्व स्वयं सामाजिक शक्तियों का अंग बन गया था । व्यक्तित्व की सीमा समाज एवं उसकी विधि में सन्निविष्ट थी ।

स्पष्ट है कि अपराधों के कारणों एवं प्रकारों पर सामाजिक शक्तियों का प्रभाव भारतीय विचारकों ने मुख्य रूप से स्वीकार किया है । उनके आधार पर ही अपराधों के स्तर में भी अन्तर हुआ । एक ही क्रिया को भिन्न अपराधों के रूप में देखा जाता है । ब्राह्मण द्वारा विहित (घटित) क्रिया का अपराध उस प्रकार का नहीं हुआ जिस प्रकार शूद्र द्वारा विहित क्रिया का अपराध माना गया। इस तरह अपराध सम्बन्धी विषमता का आधार मनुष्य का 'आन्तर-व्यक्तित्व' नहीं होता बल्कि बाह्य वातावरण होता है, जिसका निर्धारण समाज करता रहा है । अतएव अपराधों के विकास-क्रम में अपराधों का निर्धारण सामाजिक शक्तियाँ करती रही हैं ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. पापेषु निरता नरा: । याज्ञवल्क्य0, 3/221.
2. महाभारत शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय, 35.
3. Blackstone, Sir William, Commentries on the Law's of England, vol. iv, p. 5.
4. Kenny, Outline of Criminal Law, P. 6.
5. Stephen, General View of Criminal Law, p. 3
6. I.P.C. Section (40) and Cr.P.C. section 4(O).
7. Russel, One Crime, Vol. 1, p. 16.
8. Sutherland & Cressy, Principle of Criminalogy, p. 4.
9. टैफ्ट, आर0 डोनाल्ड, क्रिमिनोलोजी, पृष्ठ 6.
10. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 761.
11. Sethna, N.J., Society and Criminals, p. 125.
12. दण्डविवेक, पृष्ठ 321.
13. डॉ0 साधना शुक्ला : प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, पृष्ठ 28.
14. Sutherland and Cressy, Principle of Criminology, pp. 12-13.
15. Nigam, Principle of Criminal Law and its Administration in Ancient India.
16. Vardachariar, The Hindu Judicial System, p. 84.
17. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 706.

18. मनुस्मृति, 8/3-7,

19. वृहस्पति0, 1/9.

20. कात्यायन0, 30.

21. याज्ञवल्क्य0, 2/231.

22. त्रिपाठी, डॉ0 हरिहरनाथ, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृष्ठ 262.

23. सरस्वती विलास, पृष्ठ 51.

24. स्मृति चन्द्रिका-2, पृष्ठ 9.

25. दण्ड विवेक, पृष्ठ 32.

26. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, अध्याय 3 और 4.

27. याज्ञवल्क्य0, 2/5.

28. मनुस्मृति, 8/33-34.

29. कात्यायन0, 27.

30. Vardachariar, The Hindu Judicial System, p. 84.

31. मनुस्मृति, 9/252-253.

32. कात्यायन0, 33-34.

33. पितामह0, 1/7.

34. नारद0, स्मृति चन्द्रिका-2, पृष्ठ 28 में उद्धृत.

35. पितामह0, वही, पृष्ठ 58 में उद्धृत.

36. नारद0, प्राकीर्णक, 1-4.

37. वृहस्पति0, प्रार्कीर्णक-1.

38. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/74-75/20.

39. दण्ड विवेक, पृष्ठ 559-560.

40. नारद0, प्राकीर्णक, 1-4.

41. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/74-75/20.

42. मृच्छकटिकम्, नवमोऽङ्कः,

43. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/20/22.

44. वृहस्पति0, 1/141-42.

45. मनुस्मृति0, 8/27-30.

46. याज्ञवल्क्य0, 2/301.

47. वही, 2/301 पर मिताक्षरा

48. साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्येन परीक्षेत साक्षिणः ॥
– मनुस्मृति, 8/72.

49. मनुस्मृति, 8/386-87.

50. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ0 1015.

51. यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥
– मनुस्मृति, 4/173.

52. मनुस्मृति, 11/81 पर कुल्लूक भट्ट की टीका

53. याज्ञवल्क्य0, 3/221.

54. अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नर: ॥
- मनुस्मृति, 11/44.

55. याज्ञवल्क्य0, 3/219.

56. Jolly, Hindu Law and Custom, p. 25.

57. Maine, Ancient Law, p. 5.

58. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागम: ।
महान्ति पातकान्याहु: संसर्गश्चापि तै:सह ॥
- मनुस्मृति, 11/54.

59. निरुक्त, 6/111.

60. Jayaswal, K.P., Manu and Yajnavalkya, p. 168.

61. मनुस्मृति, 11/55-58.

62. याज्ञवल्क्य0, 3/288 एवं 232.

63. मनुस्मृति, 11/59-66.

64. याज्ञवल्क्य0, 3/234 एवं 242.

65. मनुस्मृति, 11/45-46.

66. वही, 8/2 एवं 8/10.

67. पाराशर0, 8/36-37.

68. ऋग्वेद, 6/25/4-6.

69. ऋग्वेद, 5/79/9.

70. Vedic Index, Vol. 1, pp. 390-397

71. Ibid., p. 109.

72. गौतम संहिता, 3/1/2.

73. वही, 3/2/1.

74. वही, 3/3/1-3.

75. वही, 3/3/9.

76. शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥

- मनुस्मृति, 8/267.

याज्ञवल्क्य0, 2/204, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/18/2-4.

77. मनुस्मृति, 8/273-274.

78. वही, 8/267,

स्वदेशग्रामयोः पूर्वं मध्यमं जातिसंघयोः ।
आक्रोशाद्देवचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति ॥

- कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/18/12.

79. शूद्रो येनाङ्गेन ब्राह्मणमभिहन्यात् तदस्यच्छेदयेत् ।

- वही, 3/19/8.

80. याज्ञवल्क्य0, 2/221.

81. आपस्तम्ब0, 2/10/27/14, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 4/10/13.

---------::0::---------

चतुर्थोऽध्यायः

अपराधों का वर्गीकरण

अपराधों के विकास से हम स्पष्ट देखते हैं कि उनका सूत्रपात वैदिक काल से ही हो गया था। यह निश्चित ही है कि उत्तरवर्तीकाल में अपराध और पाप को अलग करना अत्यन्त कठिन हो गया था, किन्तु वैदिक काल से ही राज्य और समाज के माध्यम से दण्ड-क्रिया का उपयोग होते हुए देखते हैं। अपराधों की थोड़ी बहुत जो सूची प्राप्त होती है उससे स्पष्ट होता है कि पाप से स्वतन्त्र अपराध का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया था। विश्वास की जगहर पर अपराध के निर्णय में विवेक-शक्ति का प्रयोग होने लगा था। इसी कारण उनका निर्णय और व्यवहार केवल अलौकिक शक्तियों के हाथ में नहीं दिया गया, वरन् उनके स्थान पर समाज और व्यक्ति से उनका सम्बन्ध था।

वैदिक काल में अपराध की सूची के साथ उस समय की स्थिति का प्रभाव मुख्य रहता है। उस समय अपराधों को प्राथमिकता देने में उस समाज के लक्ष्य का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। उत्तरवर्ती काल की स्थिति में उस समय की स्थिति का योग स्पष्ट है। परिणामत: अपराध के वैयक्तिक, सामाजिक एवं राज्य सम्बन्धी सूची का विकास हुआ। उत्तरवर्ती काल के अपराध परिगणन में सामाजिक स्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उससे स्पष्ट होता है कि अपराध की कोई शाश्वत सूची, जैसा कि सनातनी दृष्टि में माना जाता है, नहीं प्राप्त होती है। उसमें देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

उत्तरवर्ती काल में अपराध की सूची का विकास प्राप्त होता है, वहीं उस पर पाप के साथ उसका सम्मिश्रण होता हुआ भी दिखाई पड़ता है। इसका

कारण यह है कि उस समय बौद्ध, जैन तथा अन्य विदेशी प्रतिक्रियाएँ हुआ करती थीं। इस युग के अपराध परिगणन में जातीय और धार्मिक तत्त्वों का प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत होता है। अब अपराधों का वर्गीकरण क्रमशः निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है :-

1. वाक् पारुष्य :

वाक् पारुष्य का सामान्य अर्थ है, शब्दों द्वारा हिंसा। जिसे हम सामान्यतया गाली-गलौज करना अथवा निन्दा करना समझ सकते हैं। नारद के अनुसार देश, जाति या व्यक्ति को अपमानित करना अथवा मानसिक कष्ट पहुँचाते हुए उच्च स्वर में प्रयुक्त अपशब्द वाक् पारुष्य है।[1]

कात्यायन का कथन है कि दूसरे के सामने संसार के निन्दित शब्दों का उच्चारण, हुंकार अथवा कठोर शब्द करना वाक्पारुष्य है।[2]

आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि उपवाद (अपवाद, निन्दा, कुत्सा अंग की विकलता या शरीर के किसी दोष को कहना), कुत्सन (पागल इत्यादि कहकर निन्दा करना) एवं अभिभर्त्सन (घातादि अथवा वधादि का भाव तथा धमकी या भय प्रदर्शन करना) वाक्पारुष्य है।[3] गाली किसे दी गयी है अथवा किन शब्दों का व्यवहार हुआ है, इसी आधार पर वाक्पारुष्य के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार वाक्पारुष्य तीन प्रकार का होता है - एक निम्न, दूसरा मध्यम एवं तीसरा उच्च। किसी देश, जाति और कुल को गाली

दी जाती है तो निम्न वाक्पारुष्य माना जाता है। जब गाली देने वाला किसी की माता, बहन एवं कन्या के सम्बन्ध में अपशब्द का प्रयोग करता है तो वह मध्यम वाक्पारुष्य होता है एवं जब निषिद्ध भोजन अथवा पेय का प्रयोग करने का अथवा महापातकों का दोष लगाता है या जानबूझकर उसके दोषों को प्रकट करता है तो वह उच्च वाक्पारुष्य कहलाता है।[4]

नारद के अनुसार वाक्पारुष्य तीन प्रकार का होता है - निष्ठुर, अश्लील एवं तीव्र। निष्ठुर में झिड़कियों के रूप में किसी को अपशब्द कहे जाते हैं। अश्लील में खराब भाषा में गन्दी अथवा अपमानजन्य बातें कहीं जाती हैं। तीव्र में जातिभ्रष्ट होने योग्य महापातकों का दोष लगाया जाता है तथा क्रम से इन तीनों के लिए अपेक्षाकृत अधिक दण्ड की व्याख्या की गई है।[5]

कात्यायन का कथन है कि वाक्पारुष्य निष्ठुर, अश्लील एवं तीव्र इन तीन प्रकार का होता है।[6] आचार्य कौटिल्य भी वाक्पारुष्य के पाँच भेद बताते हैं। शरीर, प्रकृति, श्रुत, वृत्ति एवं जनपदों के प्रति किया गया अपशब्द का प्रयोग।[7]

वाक्पारुष्य में अनेक तत्त्वों का समावेश है। उनमें वर्ण का महत्त्व कम नहीं है लेकिन किसी भी वर्ण से प्रयुक्त अपशब्द वाक्पारुष्य माना जाता है। वृहस्पति वाक्पारुष्य के लिए समान वर्ण, उच्च वर्ण और निम्न वर्ण के व्यक्तियों पर अर्थदण्ड के विषय में इस सामान्य नियम का प्रतिपादन करते हैं कि यदि दो समान वर्ण के व्यक्ति एक दूसरे पर आरोप करते हैं तो उन दोनों पर समान अर्थदण्ड होता है। निम्न वर्ण का व्यक्ति, यदि उच्च वर्ण के व्यक्ति पर आक्षेप करता है तो उसे

दूना व उच्च वर्ण के व्यक्ति पर इसका आधा अर्थदण्ड होता है ।[8]

विष्णु का मत है कि समान वर्ण के व्यक्ति को अपशब्द कहने वाला बारह पण से, अपने से निम्न जाति के व्यक्ति को अपशब्द कहने वाला छः पण से दण्डनीय होता है ।[9] गौतम का विचार है कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को अपशब्द कहे तो उसे क्रमशः पच्चास या पच्चीस पण का दण्ड होना चाहिए । शूद्र को अपशब्द कहने पर उसे कोई अर्थदण्ड नहीं होना चाहिए ।[10]

भगवान् मनु का कथन है कि ब्राह्मण के प्रति कठोर (अपशब्द) वचन कहने वाले क्षत्रिय को सौ पण, वैश्य को डेढ सौ से दो सौ पण तथा शूद्र को देह से दण्डित किया जाय । यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के प्रति कठोर वचन कहे तो पच्चास पण, वैश्य के प्रति कहे तो पच्चीस पण एवं शूद्र के प्रति कहे तो बारह पण से दण्डित किया जाय ।[11]

वृहस्पति के अनुसार यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को अपशब्द कहता है तो वह क्रमशः पच्चास, पच्चीस और साढे बारह पण से दण्डनीय है किन्तु यह दण्ड-व्यवस्था शूद्र के गुणी (सच्छूद्र) होने पर ही होती है । गुणहीन शूद्र को गाली देने में ब्राह्मण कोई अपराध नहीं करता है । वैश्य यदि क्षत्रिय को अपशब्द कहे तो वह सौ पण से, और क्षत्रिय, वैश्य को अपशब्द कहे तो वह इसके आधे दण्ड से दण्डनीय है । यदि क्षत्रिय शूद्र को अपशब्द कहे तो बीस पण से और वैश्य कहे तो इसके दूने से दण्डनीय है ।[12]

शंखलिखित के अनुसार यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय को अपशब्द कहता है तो सौ

पण, वैश्य को कहता है तो पचास पण और शूद्र को अपशब्द कहे तो पच्चीस पण का अर्थदण्ड होता है ।[13]

वाक्पारुष्य के अन्तर्गत शरीर को लक्ष्य करके कहे जाने वाले आक्षेप भी दण्डनीय थे । आचार्य कौटिल्य का कथन है कि शरीर, प्रकृति, श्रुत एवं वृत्ति तथा जनपदों के प्रति काण, खञ्ज आदि शब्दों द्वारा, सत्य होने की स्थिति में तीन पण तथा मिथ्या कथन पर छः पण दण्ड दिया जाय । काणे, खञ्जादि को अच्छे नेत्र वाला कहकर, स्तुति-निन्दा करने पर बारह पण दण्ड लगाया जाय ।[14]

भगवान् मनु का निर्देश है कि काने, लंगड़े अथवा किसी अन्य अंग-भंग वाले को, काना आदि कहकर चिढ़ाने वाले पर एक कार्षापण दण्ड लगाया जाय ।[15]

<u>दण्ड पारुष्य</u> :

धर्मसूत्रों के उपरान्त अपराधों के प्रकार नये परिगणन में प्रस्तुत किये गये। इनमें एक दण्ड पारुष्य है । नारद के अनुसार किसी के अंग को हाथ, पाँव या अन्य शस्त्र से पीड़ित करना ही दण्ड पारुष्य है ।[16]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार स्पर्शन (मारने के लिए अंगों का नाम कथन या स्पर्श), अवगूर्ण (किसी पर प्रहार के लिए हाथ या लाठी उठाना) एवं प्रहत (प्रहार या आघात करना) दण्ड पारुष्य है ।[17] बृहस्पति के अनुसार हाथ, पाँव, मुद्रा, भस्म अथवा कीचड़ फेंककर तथा आयुध से पीड़ा पहुँचाने को दण्ड पारुष्य कहा जाता है ।[18] अग्निपुराण के मत से हाथ, पैर या आयुध आदि के द्वारा, दूसरों के शरीर पर चोट पहुँचाने तथा झगड़ा आदि अपराध दण्डपारुष्य कहा जाता है।[19]

नारद दण्ड पारुष्य को हीन, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का मानते हैं जो क्रमशः मारने के हाथ या हथियार उठाना, बिना किसी अनुताप के आक्रमण करना और घायल करना है। हीन, मध्यम और उत्तम की व्यवस्था अपराधी और अपराध पर की जाती है। इतना अवश्य है कि दण्डपारुष्य में सिद्ध अपराध किसी का हो उसे दण्ड अवश्य मिलता है। इसमें प्रथम प्रयास करने वाले को अधिक उत्तरदायी माना जाता है। वाक्पारुष्य की भाँति, दण्डपारुष्य के लिए भी दण्ड देने के पहले यह भलीभाँति देखा जाता है कि कौन दोषी है और कौन निर्दोष ?

नारद के अनुसार जब दोनों पक्ष एक साथ झगड़ना प्रारम्भ करते हैं तो दोनों को समान दण्ड मिलेगा। जो पहले पारुष्य प्रारम्भ करता है, वह निश्चित रूप से अपराधी है, पर जो स्वयं प्रत्युत्तर दे देते हैं, वह भी समान रूप से अपराधी है किन्तु प्रारम्भ कर्त्ता ही अधिक दण्डनीय है। जब दोनों पक्ष बराबर लड़ते हैं तो जो आगे बढ़कर लगातार आक्रमण करता रहता है, तो उसे अपेक्षाकृत अधिक दण्ड मिलेगा। चाहे उसने आक्रमण किया हो या नहीं।[20] यदि श्वपाक, मेद, चाण्डाल, अंगहीन, व्याध, हाथीवान, व्रात्य, दास आदि नीच लोग गुरू या कुलीन लोगों का अपमान करें तो उन्हें उसी स्थान पर कोड़े मारकर दण्डित किया जा सकता है। यदि राजा को उन्हें दण्डित करना पड़े तो वह उन्हें उनके अपराध के अनुरूप शारीरिक दण्ड दे किन्तु उनसे अर्थदण्ड कभी न ले, क्योंकि उन लोगों की सम्पत्ति गर्हित (निन्दित) होती है।[21]

मिताक्षरा का कथन है कि जो व्यक्ति गाली दिये जाने पर अथवा आक्रमण

किये जाने पर अपनी ओर से वैसा अपराध नहीं करते उन्हें प्रशंसित करना चाहिए, किन्तु जो अपनी ओर से प्रत्युत्तर दे दें उन्हें भी दण्डित करना उचित है परन्तु उनका दण्ड प्रथम बार पारुष्य करने वाले से कम होगा ।[22]

कात्यायन का भी विचार है कि जब राजा अनुमानादि से दण्डपारुष्य का कारण जानने में असमर्थ हो तो साक्षी अथवा दिव्य करवाये ।[23] वाक्पारुष्य की तरह दण्डपारुष्य का दण्ड भी इस आधार पर दिया जाता था कि अपराध करने वाले व जिसके प्रति अपराध किया गया है, उसकी जाति क्या है ? कात्यायन के अनुसार जिस प्रकार वाक्पारुष्य में दण्ड गाली देने वाले अथवा जिसे गाली दी जाती थी, उसकी जाति के अनुसार होता था । उसी प्रकार ही दण्डपारुष्य में भी होता है ।[24]

तैत्तरीय संहिता के अनुसार ब्राह्मण को मारने के लिए हाथ उठाने पर सौ गाय, मारने पर एक सहस्र गाय का दण्ड दिया जाता है । यदि रक्त निकाल देता है तो वह अक्षम्य हो जाता है और उसे पितरों को न देखने का दण्ड दिया जाता है ।[25] काणे महोदय का मत है कि संस्कृत साहित्य में दण्डपारुष्य पर दण्ड देने के विषय में प्राचीनतम उल्लेख है ।[26]

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण को पीड़ा पहुँचाने वाले अब्राह्मण को जिस अंग से उसने प्रहार किया हो उसे कटवाने का निर्देश करते हैं ।[27]

भगवान् मनु कहते हैं कि अन्त्यज (शूद्र) अपने जिस अंग से ब्राह्मण पर प्रहार करे, उसके वे अंग काट डाले जायँ ।[28] आचार्य कौटिल्य यद्यपि उदारवादी

विचारधारा के विचारक माने जाते हैं किन्तु वह भी इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था को समर्थन दे दिया है। उनका कहना है कि शूद्र अपने जिस अंग से ब्राह्मण पर प्रहार करे उसका (शूद्र का) वह अंग काट लिया जाय।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् मनु कहते हैं कि राजा हाथ उठाकर अथवा डण्डे से ब्राह्मण को मारने वाले शूद्र का हाथ कटवा डाले, तथा पैर से ब्राह्मण को मारने वाले शूद्र का पैर कटवा ले। निम्न वर्ण का जो व्यक्ति, उच्च वर्ण वाले व्यक्ति के साथ एक आसन पर बैठे तो राजा उसके नितम्ब का मांस कटवाकर तथा कमर को दगवाकर देश से निर्वासित कर दे। ब्राह्मण पर अहंकार वश थूक देने वाले शूद्र के दोनों ओष्ठ, मूत्र करने वाले का उपस्थ (लिंग) और अधोवायु करने वाले को गुदा कटवा ले। शूद्र यदि अभिमानवश ब्राह्मण के बाल को, दाँत, दाढ़ी, कण्ठ या अण्डकोश आदि पकड़े तो उसके दोनों हाथ कटवा दिये जायँ।[29]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि नाभि के नीचे शरीर को हाथ, पङ्क (कीचड़) भस्म एवं धूलि से स्पर्श करने पर तीन पण, अपवित्र हाथ आदि से तथा पैर और धूलि से स्पर्श करने पर छः पण, छर्दि, मूत्र और पुरीष द्वारा स्पर्श करने पर बारह पण दण्ड दिया जाय। नाभि के ऊपर उक्त प्रकार से स्पर्श करने पर दूना तथा, शिर पर वैसा करने पर चार गुना दण्ड आरोपित किया जाय। सम-वर्ती-जनों के प्रति उक्त व्यवहार पर दण्ड अग्रलिखित हैं। विशिष्टजनों के साथ वैसा व्यवहार करने पर दूना, हीन (छोटे) जनों के साथ उक्त व्यवहार करने पर आधा, परायी स्त्री के साथ वह व्यवहार होने पर दूना दण्ड आरोपित किया

जाय । प्रमाद, उन्माद एवं मोहादि के कारण वह व्यवहार किया गया हो तो आधा दण्ड प्रदान किया जाय । पैर, वस्त्र, हाथ एवं बाल पकड़ने पर, क्रमशः छः, बारह, अट्ठारह तथा चौबीस पण दण्ड दिया जाय ।[30]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि भस्म, कीचड़ और धूल फेंकने पर दस पण का दण्ड होता है । अमेध्य फेंकने पर, एड़ी से मारने का और थूक फेंकने पर बीस पण दण्ड होता है । ये दण्ड समान वर्ण के व्यक्ति पर भस्म आदि फेंकने के होते हैं । पर-स्त्री और अपने से उत्तम जाति के व्यक्ति को भस्मादि फेंकना अथवा पीड़ित करने पर दूना दण्ड होता है । अपनी अपेक्षा निम्न वर्ण एवं वृत्ति वालों को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड होता है । दण्डपारुष्य के विषय में यह भी देखा जाता था कि व्यक्ति को कहाँ एवं किस प्रकार की चोट पहुँचायी गयी है । परस्पर अपने समान जाति वाले को मारने के लिए हाथ या पैर उठाने पर दस पण और बीस पण तथा शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिए। इसी प्रकार पैर, केश, वस्त्र और हाथ पकड़कर बलपूर्वक खींचने में दस पण दण्ड होता है । जो पीड़ा पहुँचाते हुए वस्त्र में बाँधकर पैर से मारे उस पर एक सौ पण का दण्ड होता है ।[31]

इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि पैर, वस्त्र, हाथ और बालों को पकड़ने वाले व्यक्ति पर क्रमशः छः, बारह, अट्ठारह और चौबीस पण के दण्ड दिये जायँ । लकड़ी, ढेला, पत्थर, लोहे की छड़ तथा रस्सी इन द्रव्यों में से किसी एक द्वारा शोणित {खून} रहित दुःख देने वाले पर चौबीस पण दण्ड तथा शोणित उत्पन्न करने पर दूना दण्ड लगाया जाय, किन्तु फोड़ा आदि के कारण

विकृत रक्त निकलने पर दूना दण्ड न लगाया जाय । यदि अपराधी बिना खून निकाले मारते-मारते किसी व्यक्ति को मृतप्राय कर दे तो या उसके हाथ-पैरों को तोड़ने पर या नाक, कान काट दे व घावों को फाड़ दे तो उसे पूर्व साहस दण्ड लगाया जाय । हड्डी या ग्रीवा तोड़ने पर, आँख फोड़ने पर, जीभ, हाथ, पैर और मुँह आदि को काट देने पर मध्यम साहस का दण्ड दिया जाय । अपराधी से उस अपंग व्यक्ति की दवा, स्वस्थीकरण उपचार आदि चिकित्सा (समुत्थान-व्यय), खाने-पीने की व्यवस्था भी पूर्ण स्वस्थ होने तक करायी जाय ।[32]

भगवान् मनु ने भी लिखा है कि अंगों में चोट लगने और खून बहने पर राजा प्रहारकर्त्ता से समुत्थान (चिकित्सा) व्यय भी दिलवाये, यदि अपराधी न दे तो राजा उसे सर्व दण्ड दे । जो मनुष्य किसी की किसी भी वस्तु को जान बूझकर या अज्ञानता (अनजाने) में नष्ट करे तो वह मनुष्य नष्ट की हुई वस्तु का वास्तविक मूल्य, उस वस्तु के स्वामी को तथा उतना ही मूल्य दण्ड स्वरूप राजा को देवे ।[33]

आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि अभिघात करके, दूसरे की दीवाल क्षुभित (हिलाने) करने वाले व्यक्ति पर तीन पण दण्ड तथा दीवाल को छिन्न भिन्न करने वाले पर छः पण दण्ड तथा प्रतिकार आरोपित किया जावे ।[34]

<u>स्तेय एवं साहस</u> :

चोरों से प्रजा की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य था । इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं कि राजा चोरों को बन्धन में डालने के लिए अत्यन्त प्रयत्न-

शील रहे, क्योंकि चोरों के निग्रह से ही राजा के यश तथा राज्य की वृद्धि होती है। जो राजा प्रजाओं को चोरों से अभय दान देता है वह अवश्यमेव पूजनीय होता है क्योंकि वह प्रजापालन रूपी यज्ञ, अभय रूपी दक्षिणा से सदैव बढ़ता है।[35]

'स्तेय' शब्द ऋग्वेद में आया है। इसे महान् अपराध माना गया है। उससे बचने के लिए देवताओं की स्तुति की गयी है। चोर के लिए 'तायु' एवं 'तस्कर' शब्दों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त के अनुसार तायु चोर वाचक है, चोर में पाप इकट्ठा होकर रहता है। अतः स्तेन कहलाता है।[36] ऋग्वेद में आये हुए इन शब्दों के विषय में काणे महोदय का विचार है कि यहाँ स्तेन का अर्थ वह चोर जो सम्पत्ति को गुप्त रूप से उठा ले जाता है तथा तस्कर वह है जो खुलेआम चोरी करता है।[37]

भगवान् मनु के अनुसार स्वामी के समक्ष बलपूर्वक (बलात्कारपूर्वक) किसी वस्तु का अपहरण करना साहस (डाका) और स्वामी के परोक्ष में किसी वस्तु का अपहरण करके चुपके से भाग जाना स्तेय कहलाता है। मनु स्तेय एवं साहस को दो भिन्न भिन्न अपराध मानते हैं, जिन्हें हम आधुनिक व्यवहार की भाषा में चोरी एवं डाका कह सकते हैं। वह स्तेय को चोरी एवं साहस को डाका का रूप स्वीकार करते हैं।[38]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि किसी दूसरे व्यक्ति का द्रव्यादि स्वामी के उपस्थित रहने पर जब बलपूर्वक अपहृत कर लिया जाता है तो वह कर्म 'साहस' कहलाता है एवं जब स्वामी अनुपस्थित हो या उसकी दृष्टि बचाकर चुपके

से उसके द्रव्यादि को ग्रहण करना एवं गृहीत का अपव्यय करना 'स्तेय' कहलाता है। ये भी साहस एवं स्तेय को क्रमशः डाका एवं चोरी से अभिहित करते हैं।[39]

नारद का कथन है कि साहस में बलपूर्वक अपराध किया जाता है, जबकि चोरी में यह धोखे से किया जाता है। नारद भी चोरी और डाके में अन्तर किये हैं।[40]

कात्यायन के अनुसार दूसरों की सम्पत्ति का पीछे से सामने से, रात्रि में या दिन में हरण करना स्तेय कहलाता है।[41] नारद का कथन है कि सोये हुए, असावधान या उन्मत्त लोगों के धन को कोई हर लेवे तो यह स्तेय के अन्तर्गत आता है।[42]

इन सब परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि चोरी एवं डाका दो भिन्न-भिन्न अपराध हैं। के0पी0 जायसवाल के अनुसार प्राचीन भारत में साहस या डाका वर्तमान डाके से विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता था। डाका व्यक्ति या सम्पत्ति दोनों का हो सकता था। खुलेआम अपहरण करना भी इसमें आता है। इसी प्रकार चोरी से अभिप्राय धोखे या कौशल से सम्पत्ति का अपहरण करना था। चोरी में स्त्री-पुरुष की चोरी भी आती थी। सामान्य रूप से इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के क्षति पहुँचाने के मामले आते थे।[43]

चोरी के भेद :

चोरी की गई वस्तु की कीमत के आधार पर स्तेय की तीन भेद होते हैं - 1. क्षुद्र, 2. मध्यम एवं 3. उत्तम। नारद के विचार से मिट्टी के

वर्तन, आसन, खटोला, अस्थि, लकड़ी, चमड़ा, घास और अनाज तथा पका हुआ अन्न ये सब कम मूल्य की वस्तुएँ हैं। रेशम के अलावा अन्य वस्त्र, गाय के अतिरिक्त अन्य पशु, स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य धातुएँ, चावल के अलावा जौ मध्यम मूल्य की वस्तुएँ हैं। स्वर्ण, बहुमूल्य रत्न, रेशम, स्त्री-पुरुष, गाय, हाथी, घोड़े और ईश्वर, ब्राह्मण और राजा से सम्बन्धित वस्तुएँ उत्तम मूल्य की वस्तुएँ हैं।[44] याज्ञवल्क्य का कथन है कि छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की और बड़ी वस्तु की चोरी में देश, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की गई वस्तु के मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारण करना चाहिए।[45]

भगवान् मनु कहते हैं कि दस कुम्भ (घट) धान से अधिक चुराने वाले को शारीरिक दण्ड देवे एवं उससे कम चुरावे तो जितना चुरावे उसका ग्यारह गुना दण्ड देता हुआ धान के स्वामी को धान दिलवावे। स्वर्ण, रजत आदि, श्रेष्ठ वस्त्र आदि की पूर्ण संख्या ज्ञात न हो तो भी सौ से अधिक चुराने वाले को प्राण-दण्ड दिया जाय। गणना में से पच्चास तक चुरावे तो ग्यारह गुना और सौ तक चुरावे तो हाथ काटने का दण्ड दिया जाय।[46]

चोरों के प्रकार :

भगवान् मनु दो प्रकार के चोरों का वर्णन करते हैं। दूसरों के धन को चुराने वाले चोर प्रकट और गुप्त दो प्रकार के होते हैं। गुप्तचररूपी नेत्रों वाला राजा उन दोनों पर दृष्टि रखे। नकली वस्तु बेंचकर ठगने वाले प्रत्यक्ष चोर एवं छिपकर लूटने वाले प्रच्छन्न (गुप्त) चोर होते हैं। रिश्वती, डर दिखाकर लूटने वाले, ठग, जुआरी, पराये मंगल की कामना से जीने वाले, पाप छिपाकर साधुवेश

में घूमने वाले, ज्योतिष आदि का फल बताकर जीविका करने वाले, हाथियों को सिखाने वाले, चिकित्सक, चित्रकार, धूर्त वेश्याएँ तथा ऐसे ही अन्यान्य कण्टकों को राजा प्रकट (प्रत्यक्ष) चोर समझे ।[47]

बृहस्पति के विचार में चोर प्रकाश (प्रत्यक्ष) तथा प्रच्छन्न दो प्रकार के होते हैं । वे अपनी योग्यता कौशल एवं ठगी के प्रकार से अनेक प्रकार के होते हैं। सेंध लगाने वाले, मार्ग में लूटने वाले, दो पायों तथा चौपायों के चोर, अन्न-धन चुराने वाले, तथा इसी प्रकार के अन्य चोरों को प्रच्छन्न चोर जानना चाहिए । गलत तराजू एवं बटखरे वाले व्यापारी, अशिक्षित वैद्य, जुआरी, भ्रष्ट न्यायाधीश, घूसखोर ठग, काम न करने वाले सेवक, मध्यस्थता की वृत्ति करने वाले, कूट साक्षी एवं कुहुकजीवी प्रकाश चोर होते हैं ।[48]

चोरी के अपराध में जो दण्ड दिये जाते थे उसमें विशेष बात यह है कि चोरी ही एकमात्र ऐसा अपराध है जिसमें उच्च जाति के व्यक्तियों को शूद्र की अ अपेक्षा अधिक दण्ड मिलता था । यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि अपराधी जितना अधिक सुसंस्कृत एवं ज्ञानी होगा, अपराध उतना ही गम्भीर होगा ।

भगवान् मनु का कथन है कि चोरी के गुण- दोष का ज्ञाता शूद्र यदि चोरी करे तो मूल्य का आठ गुना, वैश्य चोरी करे तो सोलह गुना, क्षत्रिय चोरी करे तो बत्तीस गुना और यदि ब्राह्मण चोरी करे तो चौंसठ सौ अथवा एक सौ अट्ठाइस गुना दण्ड भोगे ।[49]

वात्यायन के अनुसार जिस अपराध के कारण शूद्र को जितना दण्ड मिलता है, उसी अपराध को यदि वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण करते हैं तो उनको दुगुना तथा तिगुना दण्ड मिलेगा ।[50]

चोरी के अपराध में दण्ड चोरी की गई वस्तु के मूल्य एवं आकार के आधार पर निर्धारित किया जाता था । याज्ञवल्क्य का कथन है कि छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की वस्तु एवं बड़ी वस्तु की चोरी में देश, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की वस्तु के मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित किया जाय ।[51]

भगवान् मनु का कथन है कि धार्मिक राजा चोरी का माल और उपकरण आदि प्राप्त किये बिना, केवल सन्देह में ही चोर को न मार दे, वरन् चोरी का प्रमाण मिलने पर ही उसके हाथ कटवा दें अथवा शूली पर चढ़वा दें ।[52]

नारद के अनुसार प्रच्छन्न चोरों को तीन प्रकार की चोरी में वही दण्ड दिये जाते हैं, जो साहस के तीन प्रकारों के लिए उल्लिखित हैं ।[53] आचार्य कौटिल्य का कथन है कि देवता से सम्बन्धित पशु, प्रतिमा, मनुष्य, क्षेत्र, गृह, हिरण्य, सुवर्ण, रत्न एवं सस्य (अन्न) की चोरी करने वाले व्यक्ति पर उत्तम साहस दण्ड लगाया जाय अथवा वध किया जाय ।[54]

दूसरे प्रकार के चोर प्रत्यक्ष चोर कहलाते हैं । प्रत्यक्ष चोरों की सूची का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि इनमें वे भी चोर, जिन्हें हम आधुनिक भाषा में सफेदपोश की संज्ञा दे सकते हैं । प्राचीन भारत में इनका अस्तित्व यह

सिद्ध करता है कि यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य धन के अभाव में ही चोरी करता है क्योंकि इनमें से अधिकांश समाज के सम्भ्रान्त एवं धनी वर्ग सम्बन्धित होते थे। ऐसे व्यक्ति स्वयं की अपराधी मन:स्थिति के कारण ही समाज के सामने कई प्रकार से लोगों को ठग लेते थे। प्राचीन भारतीय राजनीति-प्रणेताओं ने इन चोरों के लिए भी कठोर दण्डों का विधान किया है। समाज के लिए ये चोर भी उतने ही कष्टप्रद एवं हानिकारक होते हैं जितने कि अप्रत्यक्ष रूप से चोरी करने वाले चोर होते हैं।

काणे का कथन है कि प्रत्यक्ष चोरों को दण्ड अपराध के लघुता या गुरुता के अनुपात में मिलता है।[55] भगवान् मनु का कथन है कि इन्द्रपद एवं विमलकीर्ति को चाहने वाला राजा साहसी {डकैत} मनुष्य को दण्ड देने में क्षणभर भी उपेक्षा न करें। दुष्ट वाणी वाले चोर एवं लाठी से प्रहार करने वाले पुरुष से भी अधिक अपराधी साहस {डकैती} कर्म करने वाला मनुष्य होता है। जो राजा साहसी {डकैत} को क्षमा करता है, वह {राजा} शीघ्र ही नष्ट हो जाता है एवं सभी मनुष्य उससे वैर कर लेते हैं।[56]

<u>स्त्री-संग्रहण</u> :

आचार्य वृहस्पति के अनुसार अत्यन्त प्राचीनकाल से स्त्री-संग्रहण नैतिकता एवं वैवाहिक जीवन के विरुद्ध एक गम्भीर अपराध समझा जाता रहा है।[57]

स्मृतिकारों ने पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्धों पर अत्यधिक बल दिया है, किन्तु वास्तविक जीवन में इस पवित्रता का उल्लंघन भी होता था।[58]

हिन्दू-विधि-वेत्ताओं ने इस विषय की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या किये हैं। दण्ड विवेक के अनुसार स्त्री-संग्रहण के अन्तर्गत बलात्कार एवं व्यभिचार दोनों ही आ जाते हैं। जिस स्त्री की वहाँ चर्चा होगी, वह अपनी पत्नी नहीं है, वरन् वह पर-स्त्री है। पर-स्त्री भी दो प्रकार की होती हैं :-

1. परिणीता (विवाहिता), एवम्
2. अपरिणीता (अविवाहिता)।

इनमें विवाहिता अनेक प्रकार की होती हैं। यथा - साध्वी, बन्धकी, उत्तमा, हीना, स्वजना, अस्वजना, गुप्ता, अगुप्ता एवं नपुंसक की भार्या आदि। अविवाहिता स्त्रियाँ मात्र तीन प्रकार की होती हैं - कन्या, व्रात्या एवं वेश्या।[59]

मिताक्षरा के अनुसार स्त्री एवं पुरुष का काम-सुख के लिए अवैधानिक रूप से एक होना ही संग्रहण है।[60] कुल्लूक भट्ट का कथन है कि पर-स्त्री संयोग की अभिलाषा से जो दूसरे को ग्रहण करे या पकड़े उस विधि को संग्रहण कहते हैं।[61]

वृहस्पति का कथन है कि पापमूल स्त्री-संग्रहण तीन प्रकार का होता है- बल द्वारा, छल द्वारा एवं अनुराग द्वारा। जब पुरुष एकान्त स्थान में स्त्री की इच्छा के विरुद्ध, जब वह सुप्त, मत्त, उन्मत्त अथवा प्रमत्त है अथवा सहायता के लिए वह चिल्ला रही है, सम्भोग करता है तो यह बल द्वारा किया गया संग्रहण अथवा बलात्कार है। जब वह छल से झूठे बहाने बताकर उसे अपने घर लाता है अथवा स्वयं उसके घर जाता है एवं मद्य आदि वस्तुओं का सेवन कराकर उसके साथ सम्भोग करता है तो यह छल द्वारा किया गया संग्रहण है। जब एक पुरुष स्त्री

के साथ प्रेमपूर्ण दृष्टियों का आदान-प्रदान करता है और दूती को भेजकर अपना अनुराग प्रदर्शित करता है तो उसे अनुराग से उत्पन्न संग्रहण माना जाता है।[62]

व्यास का विचार है कि स्त्री-संग्रहण प्रथम, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का होता है। पर-स्त्री के साथ निर्जन स्थान में गलत समय में मिलना व बात करना, उस पर प्रेमपूर्ण दृष्टि डालना व हँसना यह सब प्रथम श्रेणी का संग्रहण है। उसे गन्ध, मालाएँ, धूप, आभूषण, वस्त्र आदि भेजना एवं भोजन तथा पेय आदि भेजना मध्यम संग्रहण है। जब स्त्री और पुरुष एक ही शय्या या आसन पर एक दूसरे के ऊपर झुकते हुए और एक दूसरे के केश पकड़ते हुए बैठते हैं तो यह उत्तम संग्रह है।[63]

वृहस्पति का कहना है कि अनुरागज संग्रहण तीन प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में कटाक्ष करना, मुस्कराना, दूती भेजना, उसके आभूषण तथा वस्त्र छूना आता है। द्वितीय प्रकार में स्त्री को गन्ध, माला, फल, मद्य, अन्न या वस्त्र भेजना और उसके साथ मार्ग में वार्तालाप करना आता है। समान शय्या पर बैठना, परस्पर क्रीड़ा, चुम्बन, आलिंगन आदि तीसरे प्रकार का संग्रहण अर्थात् उत्तम संग्रहण है।[64]

भगवान् मनु का विचार है कि जो पुरुष पर-स्त्री के साथ तीर्थ में, वन में, अथवा नदी के तट पर अथवा नदियों के संगम में अर्थात् एकान्त में बात-चीत करता है तो वह स्त्री-संग्रहण से दण्डनीय है। पर-स्त्री के निकट माला, पुष्प, इत्र आदि का प्रेषण, हास्य, आलिंगन, वस्त्राभूषण का स्पर्श, शय्या पर बैठना यह

तब संग्रहण कहे जाते हैं। पर-स्त्री का स्पर्श करने योग्य अंग को स्पर्श करे या उसके द्वारा अपना अंग स्पर्श होने पर कुछ न कहे तो यह सब परस्पर के अनुमोदन से युक्त संग्रहण ही कहा जाता है।[65]

आचार्य कौटिल्य ने भी व्यभिचारिणी स्त्री के लक्षणों को इस प्रकार से वर्णित किया है। यदि व्यभिचारिणी रास्ते में चलती हुई दूसरी स्त्री की चुटिया (केश या चोटी) पकड़े, यदि उसके शरीर पर सम्भोग के चिह्न लक्षित हों यदि वह कामोत्तेजना के लिए अपने शरीर पर लेप लगा ले, पुरुष से इशारे से बात करे और यदि वह बातचीत से स्वयं ही प्रकट कर दे।[66]

नारद का कहना है कि पुरुष यदि स्त्री के साथ अनुचित स्थान पर बैठता है, बातचीत करता है अथवा क्रीड़ा करता है तो यह संग्रहण के तीन प्रकार हैं। स्त्री और पुरुष का नदियों के संगम पर, तीर्थ, बाग या वन में मिलना, दूत या पत्र भेजना या अन्य उसी प्रकार के कार्य संग्रहण कहलाते हैं।[67] यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के सिर, केश या वस्त्र छूता है और वह ठहरो-ठहरो कहती है तो यह कार्य संग्रहण है। यदि कोई पुरुष दर्प, मोह या गलती से कहता है कि मैंने उसके साथ पहले भी आनन्द प्राप्त किया है तो यह भी संग्रहण है।[68]

भगवान् मनु का विचार है कि स्त्रियों का यह स्वभाव ही होता है कि वे पुरुषों को दूषित करें। ऐसी युवतियों के प्रति ज्ञानी पुरुष असावधान नहीं रहते हैं। प्रमदा स्त्री इस लोक में काम-क्रोध के वशीभूत हुए मूर्ख अथवा विद्वान् को भी कुमार्ग में ले जाने में समर्थ है। इसीलिए विद्वान् को भी माता, बहन, पुत्री के

साथ निर्जन स्थान में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बहुत बलवान होती हैं।[69]

इसी आधार पर कुछ आलोचकों ने स्मृतिकारों पर स्त्रियों को हीन-दृष्टि से देखे जाने का दोषारोपण करते हैं किन्तु कतिपय आलोचकों ने इसे स्त्रियों के प्रति किया गया आक्षेप नहीं माना है। वे इसे वासनाजनित आकर्षण के प्रति एक चेतावनी मानते हैं। जो वे स्वभाव से चञ्चल मनोवृत्ति वाले पुरुषों को देते हैं। हिन्दू-विधि-वेत्ताओं द्वारा स्त्रियों के प्रति इतनी ज्यादा सतर्कता बरतने का कारण यही था कि वह इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि स्त्री-पुरुष का प्रारम्भ में साधारण परिचय ही आगे चलकर घनिष्ठ सम्बन्धों में परिवर्तित हो सकता है। वृहस्पति के अनुसार संग्रहण का पहला और सबसे अधिक गम्भीर प्रकार बलात्कार है, जिसमें स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ बलपूर्वक सम्भोग किया जाता है।[70]

बलात्कार के लिए दण्ड देते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था कि किस जाति की स्त्री के साथ बलात्कार हुआ है? तथा वह विवाहिता है या कुमारी? यह एक साधारण सिद्धान्त था कि उच्च वर्ण की स्त्री के साथ बलात्कार करने पर अधिक दण्ड एवं निम्न वर्ण की स्त्री के साथ बलात्कार करने पर कम दण्ड मिलता था। हिन्दू-विधि-निर्माणकर्त्ताओं ने विवाहिता पर-स्त्री के साथ बलात्कार करने के लिए कठोर दण्डों का नियमन किये हैं।

वृहस्पति का विचार है कि यदि कोई पुरुष इच्छा न रखने वाली स्त्री

के साथ बलात्कार करता है तो राजा उसकी सब सम्पत्ति हरण करके उसका लिंग एवं अण्डकोश कटवाकर गधे पर बैठाकर उसे घुमवायेगा ।[71] कात्यायन के अनुसार बलात्कार में मृत्युदण्ड दिया जाय, क्योंकि यह अच्छे आचरण को भंग करता है[72]। नारद का कथन है कि पर-स्त्री के साथ बलात्कार करने पर उत्तम साहस का दण्ड देने का विधान किया जाय । यह दण्ड बिना जाति पर विचार किये हुए सबको समानरूप से दिया जाना चाहिए । केवल ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए ।[73]

भगवान् मनु का कथन है कि सम्भोगादि की इच्छा न रखने वाली ब्राह्मणी का संग्रहण करने वाले अब्राह्मण अर्थात् शूद्र पुरुष को प्राणदण्ड दिया जाय, क्योंकि चारों वर्णों की स्त्रियाँ रक्षणीया होती हैं ।[74] यदि कोई ब्राह्मण रक्षिता अर्थात् पति या अभिभावक द्वारा सुरक्षित ब्राह्मणी से बलात्कार करे तो वह एक हजार पण से एवं सहमति से हो तो पाँच सौ पण से दण्डित किया जाय[75]। भगवान् मनु पुन: कहते हैं कि स्त्री-पुरुष अपने जीवनपर्यन्त अव्यभिचारी होकर धर्म, अर्थ एवं काम विषयक कर्मों में परस्पर अभेद रहें । यही संक्षिप्त रूप धर्म स्त्री-पुरुष का धर्म है ।[76] परनारी गमन से वर्णसंकर की उत्पत्ति होने के कारण मूल हरणकर्त्ता होने से अधर्म सर्वनाश का कारण हो जाता है ।[77] पर-नारी-गमन के समान और कोई पाप संसार में नहीं है जो पुरुष की आयु को क्षीण करता है ।[78]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार संरक्षण रहित ब्राह्मणा स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर क्षत्रिय को उत्तम साहस दण्ड, वैश्य का सर्वस्वहरण एवं शूद्र को कटाग्नि से दग्ध (जला) किया जाय ।[79]

भगवान् मनु कहते हैं कि अरक्षिता ब्राह्मणा से यदि शूद्र व्यभिचार करे तो राजा उसे उपस्थ छेदन और सर्वस्वहरण का दण्ड दे। यदि रक्षिता ब्राह्मणा से ऐसा करे तो सर्वस्वहरण के साथ वध करा दे। रक्षिता ब्राह्मणा से अनाचार करने वाले वैश्य को सर्वस्वहरण और एक वर्ष का कारावास तथा क्षत्रिय को एक सहस्र पण और गधे के मूत्र से सिर का मुण्डन करवा दे। अरक्षिता ब्राह्मणा से व्यभिचार करने वाले वैश्य को पाँच सौ पण एवं क्षत्रिय को एक हजार पण से दण्डित किया जाय। यदि वैश्य या क्षत्रिय किसी रक्षिता ब्राह्मणी से व्यभिचार करे तो शूद्र के लिए कहा हुआ दण्ड दिया जाय अथवा तृण की धधकती हुई अग्नि में भस्म कर दिया जाय।[80]

हिन्दू-विधि-वेत्ताओं ने कुछ स्त्रियों के साथ सम्भोग महापातक माना है। भगवान् मनु कहते हैं कि सगी भगिनी, मित्र की भार्या, पुत्र की वधू, कुमारी और अन्त्यजा के साथ संसर्ग करने वाला, गुरुतल्पगामी के समान प्रायश्चित्त करे। फुफेरी, मौसेरी या ममेरी बहन से संसर्ग करने वाला चान्द्रायण व्रत में अनुष्ठित होवे।[81]

आचार्य कौटिल्य का प्रस्ताव है कि माता एवं पिता की बहन, मामी, आचार्य की स्त्री, पुत्रवधू, पुत्री और बहन के साथ व्यभिचार करने वाले को त्रि-लिंगच्छेदनपूर्वक प्राणवध का दण्ड दिया जाय।[82]

द्यूत-समाह्वय :

द्यूत प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही है। संस्कृत साहित्य के

अध्ययन से ज्ञात होता है कि द्यूत एवं समाह्वय समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के मनोरंजन का एक अत्यन्त लोकप्रिय साधन था, किन्तु इसके दुष्परिणामों को देखते हुए इससे प्राप्त होने वाला आनन्द बिल्कुल निरर्थक था। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक हारे हुए जुआरी की दशा पर उसके विलाप का दृश्य चित्रित किया गया है।[83] अथर्ववेद में भी द्यूत के पाशों एवं ग्लह (अक्ष) का यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है।[84]

ब्रह्मपुराण में द्यूत की निन्दा करते हुए लिखा गया है कि जुआरी की पत्नी सदैव विपत्ति एवं अनिश्चित भविष्य की स्थिति में रहती है।[85] भगवान् मनु का कथन है कि अप्राणि जैसे अक्ष, शलाका, पासे आदि जड़ वस्तु से खेले जाने वाले खेल को द्यूत (जुआ) कहते हैं और प्राणी जैसे भेड़, तीतर, बटेर, कुक्कुट आदि पर बाजी के द्वारा हार-जीत करना समाह्वय कहा गया है।[86]

प्राचीनकाल में भी यह द्यूत अत्यधिक वैमनस्य उत्पन्न करने वाला देखा गया है। भगवान् मनु का कथन है कि द्यूत पूर्वकल्प (प्राचीनकाल) में अत्यन्त विरोध उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो चुका है, इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को मनोरंजन के लिए भी कभी भी द्यूत का सेवन नहीं करना चाहिए।[87] बृहस्पति के अनुसार जब चिड़ियाँ, मेष, वृष या अन्य पशु-पक्षी एक दूसरे से बाजी लगाकर लड़ाये जाते हैं तो उसको समाह्वय कहा जाता है।[88]

भगवान् मनु द्यूत एवं समाह्वय दोनों का समान रूप से निषेध करते हैं। राजा को अपने राज्य से द्यूत एवं समाह्वय दोनों व्यसनों को दूर कर देना चाहिए।

ये दोनों ही राष्ट्र का अन्त कर देते हैं। ये दोनों ही कर्म प्रत्यक्षरूप में चोरी करने के समान ही हैं। अतएव राजा को उनको रोकने में सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति द्यूत एवं समाह्वय इन दो कर्मों को करे या करावे, राजा उसके हाथ आदि कटवाकर दण्डित करे।[89] कात्यायन का मत है कि द्यूत निश्चय ही कलह का कारण होता है, अतः राजा इस व्यसन को राज्य से दूर कर दे।[90]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि द्यूताध्यक्ष द्यूत का स्थान निश्चित कराये। गूढ़ाजीवियों के ज्ञानार्थ अन्य स्थान पर, द्यूत-क्रीड़ा करने वाले व्यक्ति पर बारह पण दण्ड लगाया जाय। द्यूताभियोग के विषय में विजेता पर पूर्व साहस तथा पराजित पर मध्यम साहस दण्ड लगाया जाय।[91]

भगवान् मनु एवं अन्य विधि-वेत्ताओं के मत में भिन्नता का कारण यह है कि मनु ने द्यूत का इसलिए निषेध किया है, क्योंकि यह सत्य और धन को नष्ट करता है। अन्य विधिवेत्ता इसके पक्षधर हैं क्योंकि इससे राजा को कर प्राप्त होता है।[92]

धार्मिक अपराध :

यद्यपि वैदिककाल से स्मृतिकाल तक धार्मिक अपराधों के रूप और आधार में महान् अन्तर आ गया। वैदिक समाज में धर्म के अनेक अंगों, सम्प्रदायों एवं अवैदिक मान्यताओं का व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रसार नहीं हुआ था। प्रारम्भिक वैदिक काल में ऋत के विपरीत किया गया अपराध अनृत कहा गया और उसे स्वीकार करने वाले को दण्ड दिया जाता था, फिर भी अन्य प्राचीन सभ्यताओं

की तुलना में प्राचीन भारत में धर्म सम्बन्धी अपराधों के प्रति अधिक सहिष्णु एवं उदार दृष्टिकोण नेत्रगोचर होते हैं किन्तु कुछ धार्मिक अपराध ऐसे भी थे जिनके लिए कठोर दण्डों की व्यवस्था की गयी है। देवालयों एवं देवप्रतिमाओं को नष्ट करना एक गम्भीर अपराध समझा जाता था। उनको नष्ट करने वालों को दण्ड दिया जाता था।

कात्यायन के अनुसार जो देव-प्रतिमाओं को चुराता है, तोड़ता है, जलाता है अथवा मन्दिरों को नष्ट करता है, उसे प्रथम साहस ﴾250 पण﴿ दण्ड देना चाहिए।[93]

भगवान् मनु का कथन है कि कोष्ठागार, शस्त्रागार एवं देवालय﴾मन्दिर﴿ को नष्ट करने वालों या हाथी, अश्व और रथ का हरण करने वालों को राजा वध का दण्ड दे। जल पर रखे हुए जिस तख्ते या पत्थर पर से आवागमन हो, ध्वज, पूजास्तम्भ और मूर्तियाँ इन्हें जो कोई तोड़े उसे पाँच सौ पण दण्ड दिया जाय और उसी से टूटी हुई वस्तु ठीक करवायी जाय।[94]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि देवता से सम्बन्धित पशु, प्रतिमा, मनुष्य, क्षेत्र ﴾खेत﴿, गृह, हिरण्य, स्वर्ण, रत्न एवं अन्न इन वस्तुओं का अपहरण करने वालों को उत्तम साहस दण्ड दिया जाय।[95] देवताओं एवं देव-प्रतिमाओं की निन्दा करना भी अपराध माना जाता था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि देवताओं पर आक्षेप करने से उत्तम साहस का दण्ड प्रदान किया जाता है।[96]

आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि अपने देश, ग्राम के निन्दक पर पूर्व साहस

दण्ड, जातिसंघ के निन्दक पर मध्यम साहस दण्ड तथा देवता एवं देव-मन्दिर की निन्दा करने पर उत्तम साहस दण्ड लगाया जाय।[97]

धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप हम पाखण्डियों तथा नास्तिकों के लिए अधिक दण्डों का निर्देश नहीं पाते हैं। भगवान् मनु पाखण्डियों को अवश्य राज्य से निर्वासित कर देने का आदेश देते हैं। यथा - जुआरी, कुशीलव, क्रूर, पाखण्डी, कुकर्मी और मदिरा बनाने वालों को राजा अपने राज्य से निकलवा दे।[98]

स्मृतिकाल तक आते-आते धर्म का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया जिसके फलस्वरूप किसी को अपवित्र वस्तु खिलाकर अथवा शूद्रों द्वारा उच्च जाति के व्यक्तियों को स्पर्श करके दूषित करना भी धार्मिक अपराध माना जाता था। याज्ञवल्क्य का कहना है कि अभक्ष्य पदार्थ द्वारा ब्राह्मण को दूषित करने पर उत्तम साहस का, क्षत्रिय को दूषित करने पर मध्यम साहस का एवं वैश्य को दूषित करने पर प्रथम साहस दण्ड तथा शूद्र को दूषित करने पर पच्चीस पण का दण्ड दिया जाय।[99]

आचार्य कौटिल्य का मत है कि ब्राह्मण को अपेय अथवा अभक्ष्य खिलाने-पिलाने वाले व्यक्ति पर उत्तम साहस दण्ड, क्षत्रिय को खिलाने-पिलाने पर मध्यम साहस दण्ड, वैश्य को खिलाने-पिलाने पर पूर्व साहस दण्ड तथा शूद्र को खिलाने-पिलाने पर चौवन पण दण्ड लगाया जाय।[100]

इसी प्रकार भगवान् मनु ब्राह्मण के यज्ञोपवीतादि चिह्नों को धारण करने

वाले शूद्र को दण्ड का विधान करते हुए कहते हैं कि द्यूत एवं समाह्वय करने या
कराने वालों को राजा हाथ काटना आदि कठोर दण्ड दे और जो शूद्र ब्राह्मणों
का चिह्न (यज्ञोपवीत, तिलक) धारण करे उसे भी कठोर शारीरिक दण्ड दिया
जाए।[101]

आचार्य कौटिल्य के मत से जो शूद्र अपने को ब्राह्मण बताये एवं देव-
निमित्त धन का अपहरण करे, नृपानिष्टभाषी तथा द्विनेत्रभेदी को योगाञ्जन से
अन्धा किया जाय अथवा आठ सौ पण से दण्डित किया जाय।[102]

राजद्रोह :

राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था की अस्मिता की रक्षा के लिए यह
अत्यावश्यक है कि राजद्रोह न हो। राजा की शक्ति एवं अधिकारों के वृद्धि के
साथ ही साथ राजा एवं राज्य के प्रति होने वाले अपराधों को अत्यन्त गम्भीर
समझा जाने लगा तथा इन अपराधियों के लिए कठोर दण्ड-व्यवस्था की गयी।
राजद्रोह के लिए प्रायः वध का दण्ड दिया जाता था।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार राज्य की कामना करने वाले, अन्तःपुर में
बलात्कार की चेष्टा करने वाले, जंगली जातियों एवं शत्रुओं को राजा के विरुद्ध
उत्साहित करने वालों एवं दुर्गवासी, राष्ट्रवासी तथा सेना को कुपित करने या
भड़काने वालों के सिर और हाथ पर आग रखकर वध किया जाय।[103]

भगवान् मनु का निर्देश है कि राजा का कोश हरण करने वाले, राजा
के विरुद्ध आचरण करने वाले तथा शत्रु पक्ष को भड़काने वालों को राजा अनेक प्रकार

के दण्ड देवे ।[104] आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि राजा का अहित करने वाले तथा उसकी राजनीतिक गुप्त मन्त्रणा को खोलने वालों एवं उसकी निन्दा करने वालों तथा ब्राह्मण की पाकशाला उच्छिष्ट करने वालों की जिह्वा (जीभ) काट ली जाय ।[105]

विष्णु का विचार है कि राजा पर आक्रमण करने वालों को वध दण्ड प्रदान किया जाय एवं उसके मन्त्रियों, दुर्ग, कोश, सेना तथा राज्य आदि पर भी आक्रमण करने वाले को इसी प्रकार दण्डित किया जाय । इसी प्रकार जो व्यक्ति राज्य-प्राप्त करने की चेष्टा करे उसे भी वध-दण्ड दिया जाय ।[106]

जादू-टोना एवं अभिचार :

प्राचीन भारत में भी व्यक्तियों में जादू-टोने, अभिचार, मन्त्रोपचार आदि द्वारा कार्य सिद्ध करने की विद्या प्रचलित थी । जब ये कर्म किसी अपराध के कारण किये जाते थे तो उसके लिए दण्ड मिलता था ।

भगवान् मनु का कथन है कि अभिचार कर्म या टोने आदि करने पर इच्छित सिद्धि न मिले तो राजा उस कर्म के करने वाले पर दो सौ पण दण्ड करे ।[107] मनुस्मृति के टीकाकारों का विचार था कि यदि उस क्रिया में व्यक्ति मर जाय तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय ।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार कृत्या एवं अभिचार द्वारा जो दूसरे को जिस प्रकार विपन्न करे, उसे भी उसी प्रकार विपन्न किया जाय । भार्या अथवा कन्या कामेच्छा न होने पर, दारार्थिजन (स्त्री को चाहने वाले), भर्त्ता की कामेच्छा न

होने पर भार्या वशीकरण करे। इन सबको अपराध न माना जाय। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक प्रयोग करने वालों को मध्यम साहस का दण्ड दिया जाय।[108]

गर्भपात :

गर्भपात करना एवं कराना प्राचीन भारत में गम्भीर अपराध माना जाता था। आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि प्रहार करके गर्भपात करने वाले पर उत्तम साहस दण्ड, भैषज्य से गर्भपात कर्त्ता पर मध्यम साहस दण्ड एवं परिक्लेश द्वारा गर्भपात कर्त्ता पर पूर्ण साहस दण्ड लगाया जाय।[109] याज्ञवल्क्य भी गर्भपात करने वाले पर दण्ड-विधान करते हुए कहते हैं कि गर्भपात करने वाले को उत्तम साहस का दण्ड दिया जाय।[110]

उशना का कथन है कि मदन-क्रियादि द्वारा गर्भपात करने में प्रथम साहस औषधि-सेवन द्वारा गर्भपात करने पर मध्यम साहस तथा शस्त्राघात द्वारा गर्भपात करने पर उत्तम साहस दण्ड होता है।[111] नारद के अनुसार गर्भपात सम्पादित करने वाली स्त्री को नगर से निष्कासित कर दिया जाय।[112]

मुद्रा-नाप-तौल (व्यापारियों को दण्ड) सम्बन्धी अपराध :

मुद्रा-नाप-तौल सम्बन्धी अपराध के निवारण पर राज्य विशेष ध्यान रखता था। नकली एवं खोटे सिक्कों के प्रयोग और ढालने पर जुर्माना आदि का दण्ड विधान था। व्यापारियों द्वारा माप व तौल के सही साधन उपयोग में लाये जायँ एवं इसके लिए यह अत्यावश्यक था कि उनके तराजू एवं बाँट मानक हों।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो तराजू से तौलने, राजा की आज्ञा, तौल के मानों (बटखरों) और नाणक (सिक्कों) में धूर्तता करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए।[113]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार संस्थाध्यक्ष (बाजार या मण्डी संघ का अध्यक्ष) बाजार में स्वकरण (न्यायपूर्वक किसी वस्तु पर अपना अधिकार करना) विशुद्ध पुराण भाण्डों के आधान एवं विक्रय की व्यवस्था करे। वह नाप-तौल का दोष दूर करने के लिए तुलाभाण्डों (तराजू, बटखरा तथा नपना आदि) की समय-समय पर परीक्षा (जाँच) करता रहे।[114] पुन: आचार्य कौटिल्य कहते हैं जो व्यक्ति अधिक भार के बाँट एवं तराजू से माल खरीदकर हलके तौल से उसे बेंचे तो उसको चौबीस पण का दण्ड दिया जाय।[115]

विष्णु का मत है कि नाप-तौल में गड़बड़ी करने वालों को उत्तम साहस का दण्ड दिया जाय।[116] भगवान् मनु कहते हैं कि कोई विक्रेता श्रेष्ठ वस्तु के स्थान पर निकृष्ट मिलावटी वस्तु, असली के स्थान पर नकली अथवा तौल-नाप में कम वस्तु नहीं बेंच सकता है। यही नहीं घटिया माल को बढ़िया बताकर बेंचने वाले व्यापारियों को भी कठोर दण्ड दिया जाता था।[117]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि काष्ठ, लोहे या मणि के, रज्जु, चर्म व मिट्टी के, सूत्र, वल्कल या रोम के बने अपकृष्ट वस्तु को उत्कृष्ट कहकर विक्रय या आधान करने वाले पर, उसके (वस्तु के) मूल्य का आठ गुना दण्ड दिया जाय।[118] धान्य, स्नेह (तेल), क्षार, लवण, गन्ध (चन्दनादि) एवं भैषज्य आदि द्रव्यों में

समान वर्ण का द्रव्य मिलाने पर बारह पण दण्ड दिया जाय ।[119] आचार्य कौटिल्य स्वर्णकारों द्वारा की जाने वाली चोरियों से विधिवत् परिचित थे। इसलिए वे सुनार विषयक दण्ड-विधान करते हुए कहते हैं दासादि अशुचिजनों के हाथ से बिना सुवर्णाध्यक्ष को सूचित किये स्वर्ण-रजत, भूषण खरीदने वाले स्वर्णकार पर बारह पण तथा सोना-चाँदी खरीदने पर चौबीस पण और चोर के हाथ से खरीदने पर अड़तालीस पण दण्ड दिया जाय । गुप्त रूप से स्वरूप नष्ट करके या कम मूल्य पर §स्वर्ण-रजत§ क्रय करने तथा निर्मित-भाण्ड-परिवर्तन करने पर चोरी का दण्ड लगाया जाय । सुवर्ण से एक माषा चुराने वाले सुवर्णकार पर दो सौ पण तथा धरण-प्रमाण-चाँदी से एक माषा अपहृत करने वाले §सुनार§ पर बारह पण दण्ड लगाया जाय ।[120]

इसी प्रकार तन्तुवाय §जुलाहा§ पर भी दण्ड-विधान किया गया था । भगवान् मनु कहते हैं कि यदि तन्तुवाय दस पल सूत से ग्यारह पल से कम वस्त्र देता है तो उसे बारह पण अर्थदण्ड दिया जाय ।[121] आचार्य कौटिल्य भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि बुनकर दस पल सूत का ग्यारह पल बुना सूत वृद्धिपूर्वक दे ।[122] भगवान् मनु पुनः कहते हैं कि वस्तु तौलने के काँटे-बाँट की परीक्षा भी राजा छठवें-छठवें महीने कराये ।[123]

सिक्के-सम्बन्धी अपराध :

वर्तमान युग की तरह प्राचीन भारत में भी जाली सिक्कों की समस्या गम्भीर रूप से प्रचलित थी । याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो नाणक §सिक्के§ की परीक्षा करने वाला §नाणक-परीक्षी§ खोटे सिक्के को खरा कहता है व खरे को

खोटा कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ।[124]

आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि प्रचलित निर्दोष पण व्यवहार को दोषयुक्त तथा दोषयुक्त को निर्दोष प्रमाणित करने वाले मुद्रा-परीक्षक पर बारह पण दण्ड लगाया जाय । जाली मुद्रा ﴾सिक्का﴿ निर्मित करने एवं कराने वाले तथा उसको स्वीकार करने वाले अथवा उनका निर्यात ﴾परिचालित﴿ करने वाले व्यक्ति पर एक हजार पण दण्ड लगाया जाय । उसे कोश में डालने वाले का वध कर दिया जाय।[125]

मिथ्या-चिकित्सीय अपराध :

चिकित्साशास्त्र का ज्ञान न होने पर भी कुछ मनुष्य लोभवश व्यक्तियों की चिकित्सा करते हैं । ऐसे मिथ्या चिकित्सक मनुष्य के जीवन से मनोरंजन किया करते हैं । प्राचीन भारत में ऐसे मिथ्या चिकित्सकों को कठोर दण्ड दिया जाता था । आचार्य कौटिल्य का कथन है प्राणबाधायुक्त रोगी की अधिकारी को बिना सूचना दिये चिकित्सा करने वाले चिकित्सक पर उसकी ﴾रोगी﴿ मृत्यु होने पर पूर्व साहस दण्ड तथा चिकित्सा सम्बन्धी त्रुटि से मृत्यु होने पर मध्यम साहस दण्ड आरोपित किया जाय ।[126]

विष्णु का विचार था कि ऐसा वैद्य जो उत्तम पुरुषों के साथ मिथ्या आचरण करता है उसे उत्तम साहस का दण्ड दिया जाय, मध्यम पुरुषों के साथ करे तो मध्यम साहस दण्ड दिया जाय तथा पशुओं के साथ करे तो प्रथम साहस दण्ड दिया जाय ।[127]

भगवान् मनु का कथन है कि चिकित्सक का मिथ्या वेश बनाकर जो

गवादि पशुओं की ठीक चिकित्सा न करे तो उसे प्रथम साहस दण्ड एवं मनुष्यों की ठीक चिकित्सा न करे तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाय ।[128]

कूट (मिथ्या) साक्ष्य-अपराध :

ऐसे व्यक्ति जो न्यायालय में अनृत (झूठ) साक्ष्य देते थे उनकी गणना भी प्रकट चोरों जैसे की जाती थी । भगवान् मनु का कथन है कि लोभवश झूँठी गवाही देने पर एक सहस्र पण, मोह से मिथ्या गवाही देने वाले को प्रथम साहस, भय से मिथ्या गवाही देने वाले को दो मध्यम साहस, मित्रतावश झूँठी गवाही देने पर प्रथम साहस का चौगुना, कामवश मिथ्या साक्ष्य देने पर प्रथम साहस का दस गुना, क्रोधवश मिथ्या भाषण करने पर मध्यम साहस का तीन गुना, अज्ञान से झूँठ बोलने पर दो सौ पण तथा मूर्खता से मिथ्या भाषण करने पर सौ पण का दण्ड दिया जाय । धर्म-रक्षा और अधर्म के नियन्त्रण के लिए झूँठी गवाही में ये प्राचीन मुनियों द्वारा निर्देशित दण्ड कहे गये हैं । मिथ्या (कूट) साक्ष्य देने वाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को दण्ड देकर देश से निर्वासित कर दिया जाय तथा ब्राह्मण को केवल देश से ही निकाल दिया जाय ।[129]

विष्णु के अनुसार झूँठी गवाही देने वाले की सर्वसम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए ।[130] आचार्य कौटिल्य का निर्देश है कि कूट साक्षी को देश से निर्वासित कर दिया जाय ।[131]

जनस्वास्थ्य सम्बन्धी अपराध :

हिन्दू-विधि-शास्त्री जन स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के विषय में काफी जागरूक एवं सतर्क थे । इसलिए वे सब इस विषय में कतिपय कार्यों को दण्डनीय अपराध घोषित किये हैं । आचार्य कौटिल्य का मत है कि नगर के अन्दर मृत बिल्ली, कुत्ता, नकुल एवं सर्प छोड़ने पर तीन पण दण्ड और मृत गधा, ऊँट, खच्चर एवं अश्व छोडने पर छः पण दण्ड तथा मृतक पुरुष-स्त्री छोड़ने पर पच्चास पण दण्ड दिया जाय । शवमार्ग का परिवर्तन कर देने पर और शवद्वार के अतिरिक्त अन्य द्वार से शव ले जाने पर पूर्व साहस दण्ड आरोपित किया जाय।[132]

तालाब, कुएँ आदि के पानी को अपवित्र अर्थात् गन्दा करना एवं सार्वजनिक स्थानों में मलमूत्र का त्याग करना भी अपराध था । भगवान् मनु के अनुसार प्रजाओं के हितार्थ खुदवाये गये तड़ाग (तालाब) का जल दूषित करने या तालाब में जल आने वाले मार्ग को बन्द करने वाले को राजा प्रथम साहस दण्ड दे निरापद अवस्था में राजमार्ग में कोई अपवित्र वस्तु डालने पर दो कार्षापण दण्ड दे तथा अपवित्र वस्तु को मार्ग से हटवा दिया जाय । रोगी, आतुर, वृद्ध, गर्भिणी और बालक यदि मार्ग में मलमूत्र विसर्जित कर दें तो वे सब दण्डभागी नहीं होते हैं, उनकी भर्त्सना करते हुए मल को उनसे हटवा दें ।[133]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि पुण्य-स्थान, उदक-स्थान (जल-स्थान), देवगृह तथा राजपरिग्रह स्थानों पर विष्ठा करने पर क्रमशः एक, दो, तीन एवं चार पण दण्ड लगाये जायँ तथा उक्त स्थानों पर मूत्र त्याग करने पर क्रमशः आधा

दण्ड का आधा दण्ड दिया जाय । भैषज्य, व्याधि एवं भय के कारण विष्ठा एवं मूत्र करने पर दण्ड न लगाया जाय ।[134]

धोखा, जालसाजी एवं शरारत :

हिन्दू-विधि-वेत्ताओं द्वारा धोखा देना प्रकट रूप से चोरी के ही सदृश था । जैसे कोई व्यक्ति वर को कन्या के दोष बताये बगैर विवाह कर देता तो वह अपराधी माना जाता था ।

भगवान् मनु कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति दूषित कन्या के दोष बताये बिना ही दान कर दे, तो उसे राजा छियान्बे पण से दण्डित करे । यदि कोई द्वेषवश कन्या को अकन्या कहकर झूँठा दूषण लगाये तो उस पर राजा कन्या के दोष पर विचार किये बिना ही सौ पण दण्ड करे ।[135]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार अन्य कन्या को दिखाकर, दूसरी सवर्णा कन्या देने पर सौ पण तथा हीनवर्णा कन्या देने पर दो सौ पण दण्ड लगाया जाय ।[136] पुन: भगवान् मनु कहते हैं कि उत्तम कन्या दिखाकर अन्य कन्या से विवाह करा दिये जाने पर वर एक शुल्क से ही दोनों कन्याओं का विवाह कर ले ।[137]

जालसाजी एक गम्भीर अपराध माना जाता था । मनु एवं विष्णु कपट पूर्वक राजाज्ञा लिखने वाले के लिए दण्ड का विधान करते हैं । विष्णु के विचार से व्यक्तिगत दस्तावेजों में जालसाजी करने वाले को मृत्युदण्ड से दण्डित किया जाय ।[138]

भगवान् मनु का विचार है कि बलपूर्वक शासन करने वालों, प्रजाओं को दूषित करने वालों, स्त्री, बालक, ब्राह्मणों के हिंसकों तथा शत्रु की सेवा करने वालों का राजा वध करा देवे ।[139] अधिकांश जालसाजी ताम्रपत्रों पर लिखे लेखों में होती थी । हिन्दू-विधि-द्रष्टाओं द्वारा शरारत को साहस ﴾डाका﴿ का एक प्रकार समझा जाता था ।

अप्राकृतिक अपराध :

प्राचीन भारत में स्त्री या पुरुष के साथ अप्राकृतिक यौन सम्बन्ध करने पर हिन्दू-विधि-वेत्ताओं ने कठोर दण्ड की व्यवस्था की है ।

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि यदि कोई पुरुष स्त्री की गुदा या मुख से सम्भोग करे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड दिया जाय । तिर्यक् योनियों में मैथुन करने पर दुष्टात्मा पर बारह पण तथा देव-प्रतिमाओं से मैथुन करने पर चौबीस पण दण्ड दिया जाय ।[140]

इसी प्रकार भगवान् मनु कहते हैं कि यदि कोई कन्या मैला ﴾दूषित करने या कर्म﴿ आचरण करे तो वह राजा को दो सौ पण एवं उसके पिता को चार सौ पण दण्ड देवे एवं राजा उसे दस कोड़े अथवा बेंतों से पिटवाये । यदि कोई स्त्री किसी कन्या के साथ ऐसा ही आचरण करे तो उसका सिर मुंडवा दिया जाय एवं दो अंगुली कटवाकर गधे पर चढ़ाकर सड़क पर घुमाया जाय ।[141]

उद्धरणानुक्रमणिका

1. नारद0, 15/1.
2. कात्यायन0, 758.
3. वाक्पारुष्यं उपवाद: कुत्सनमभिभर्त्सनमिति ।
   – कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/18/1.
4. बृहस्पति0, 20/2-4.
5. नारद0, 15/2.
6. कात्यायन0, 769.
7. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/18/2.
8. बृहस्पति., 20/5.
9. विष्णु., 5/35-36.
10. गौतम., 12/13.
11. मनुस्मृति, 8/267-268.
12. बृहस्पति., 20/7-10
13. शंखलिखित विवाद रत्नाकर, पृष्ठ 251 में उद्धृत ।
14. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/18/2-3.
15. मनुस्मृति, 8/274.
16. नारद., 15/4.
17. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतमिति ।
   – कौटिलीयम् अर्थशास्त्र 3/19/1.

18. बृहस्पति., 21/1-2.

19. अग्निपुराण, 253/28.

20. नारद., 15, 16/5.

21. वही, 15, 16/9-14.

22. याज्ञवल्क्य, 1/215 पर मिताक्षरा ।

23. कात्यायन., 779.

24. वही, 786.

25. तैत्तरीय संहिता, 2/6/10/2.

26. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 821.

27. याज्ञवल्क्य., 2/215.

28. मनुस्मृति, 8/279.

29. शूद्रो येनाङ्गेन ब्राह्मणमभिहन्यात् तदस्यच्छेदयेत् ।
 - कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/19/8, एवं मनुस्मृति, 8/280-283.

30. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/19/2-5.

31. याज्ञवल्क्य., 2/213-217.

32. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/19/5, 12, 13, 14.

33. मनुस्मृति, 8/287-288.

34. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/19/24.

35. मनुस्मृति, 8/302-303.

36. निरुक्त, 4/4.

37. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 824.

38. स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्मयत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥
- मनुस्मृति, 8/332.

39. साहसमन्वयवत्प्रसभं कर्म ।
निरन्वये स्तेयम् अपव्ययने च॥
- कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/17/1-2.

40. नारद., 14/12.

41. कात्यायन., 810.

42. नारद., 14/17.

43. K.P. Jayasawal : Manu and Yajnyavalkya, pp. 158-159.

44. नारद., 14/13-16.

45. याज्ञवल्क्य., 2/275.

46. मनुस्मृति., 8/320-322.

47. वही, 9/256-260.

48. बृहस्पति., 22/2-5.

49. मनुस्मृति, 8/336-338.

50. कात्यायन., 485.

51. याज्ञवल्क्य., 2/275.

52. मनुस्मृति, 9/270.

53. नारद., 14/21.

54. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/10/16.

55. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 825.

56. मनुस्मृति, 8/344-346.

57. वृहस्पति., 29/2-3.

58. Jayaswal, M.P., p. 154.

59. दण्डविवेक, पृष्ठ 154.

60. याज्ञवल्क्य., 2/282 पर मिताक्षरा ।

61. वृहस्पति., 23/6-8.

62. मनुस्मृति., 8/356 पर कुल्लूक भट्ट ।

63. व्यास: विवाद रत्नाकर, पृष्ठ 280 में उद्धृत ।

64. वृहस्पति., 23/6-8.

65. मनुस्मृति, 8/356-358.

66. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/12/35.

67. नारद., 12/62-64.

68. वही, 12/67-69.

69. मनुस्मृति, 2/214-215.

70. वृहस्पति., 23/3.

71. वही, 22/10.

72. कात्यायन., 830.

73. नारद., 16/6-10.

74. मनुस्मृति, 8/359.

75. मनुस्मृति, 8/378.

76. वही, 9/101.

77. वही, 8/353.

78. वही, 4/134.

79. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/13/32.

80. मनुस्मृति, 8/374-377.

81. वही, 11/70-71.

82. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/13/30.

83. ऋग्वेद, 10/34.

84. अथर्ववेद, 4/16/5.

85. ब्रह्मपुराण, 171/29-38.

86. अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु सः विज्ञेयः समाह्वयः ॥
- मनुस्मृति, 9/223.

87. वही, 9/227.

88. बृहस्पति, विवादरत्नाकर, पृष्ठ 610 पर उद्धृत ।

89. मनुस्मृति, 9/221-222, 224.

90. कात्यायन., 934.

91. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/20/1-3.

92. मनुस्मृति, 9/227,
कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/20/1-3.

93. कात्यायन., 808.

94. मनुस्मृति, 9/280 एवं 285.

95. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/10/16.

96. याज्ञवल्क्य., 2/211.

97. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 3/18/12.

98. मनुस्मृति, 9/225.

99. याज्ञवल्क्य., 2/296.

100. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/13/1.

101. मनुस्मृति, 9/224.

102. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/10/18.

103. वही, 4/11/11.

104. मनुस्मृति, 9/275.

105. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 4/11/21.

106. विष्णु, 7/18-19, 15/14.

107. मनुस्मृति, 9/290.

108. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/13/27-29.

109. वही, 4/11/6.

110. याज्ञवल्क्य., 2/277.

111. उशना, दण्ड विवेक, पृष्ठ 203 में उद्धृत ।

112. नारद., 12/92.

113. याज्ञवल्क्य., 2/240.

114. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/2/1-2.

115. वही, 4/2/13.

116. विष्णु, 5/122-123.

117. मनुस्मृति, 8/203.

118. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/2/15.

119. वही, 4/2/22.

120. वही, 4/2/26-28.

121. मनुस्मृति, 8/197.

122. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/1/8.

123. मनुस्मृति, 8/403.

124. याज्ञवल्क्य., 2/40.

125. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/1/44 एवं 48.

126. वही, 4/1/56.

127. विष्णु विवाद रत्नाकर, पृष्ठ 306 में उद्धृत ।

128. मनुस्मृति, 9/284.

129. वही, 8/120-123.

130. विष्णु, 5/179.

131. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/4/12.

132. वही, 2/36/30-31.

133. मनुस्मृति, 9/281-283.

134. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 2/36/28-29.

135. मनुस्मृति, 8/224-225.

136. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/12/14.

137. मनुस्मृति, 8/204.

138. विष्णु, 5/9-10.

139. मनुस्मृति, 9/232.

140. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/13/40-41.

141. मनुस्मृति, 8/369-370.

--------::0::--------

पञ्चमोऽध्यायः

दण्ड के प्रकार

प्राचीन भारत में सभ्यता के विकास के साथ ही साथ दण्डविधि में भी परिवर्तन होता गया । वर्तमान युग में शारीरिक प्रताड़णा का प्रयोग करना अमानवीय प्रयोग माना जाने लगा । यही नहीं सम्प्रति शारीरिक दण्ड में सीमा निर्धारित की जा रही है ।

प्राचीन-हिन्दू-विधि-शास्त्रों द्वारा अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया गया है । अपराध की गम्भीरता अथवा सरलता तथा अन्य विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरान्त इनमें से कोई एक अथवा एक से अधिक दण्ड व्यक्तियों (अपराधियों) को दिये जाते थे । प्राचीन भारत में मुख्यरूप से चार प्रकार के दण्डों का नियमन किया गया है :-

1. धिग् दण्ड,
2. वाक् दण्ड,
3. अर्थ दण्ड एवम्
4. वध दण्ड ।

भगवान् मनु ने भी इन्हीं चारों दण्डों का विधान किया है । उनके अनुसार राजा अपराधी को सर्वप्रथम वाग्दण्ड अर्थात् लताड़ देवे, दूसरी बार अपराध करने पर धिग्दण्ड तथा तीसरी बार अपराध करने पर अर्थदण्ड एवं इसके बाद अपराध करने पर वधदण्ड से दण्डित करे ।[1]

उस समय वध-दण्ड से प्राण-दण्ड का तात्पर्य नहीं था, क्योंकि अगले ही श्लोक में भगवान् मनु पुन: कहते हैं कि यदि राजा अथवा न्यायाधीश वध (शारी-

ताड़न, छेदन॥ दण्ड से भी अपराधी को वश में न कर सके तो उसके ऊपर उक्त चारों प्रकार के दण्डों का एक साथ प्रयोग किया जाय ।[2]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि दण्ड के चार प्रकार हैं - 1. धिग्दण्ड, 2. वाग्दण्ड, 3. अर्थदण्ड एवम् 4. वधदण्ड ॥। अपराधानुसार इन दण्डों का एक अथवा समवेत रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए ।[3] नारद का विचार है कि दण्ड दो ही श्रेणियों में रखे जायँ - शारीरिक तथा अर्थदण्ड । अर्थदण्ड काकणी ॥कौड़ी कम से कम अर्थदण्ड॥ से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिग्रहण था । शारीरिक दण्ड जेल में बन्द करने से प्रारम्भ होकर मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता था ।[4] कात्यायन कहते हैं कि दण्ड दो प्रकार का होता है 1. आर्थिक तथा 2. शारीरिक ।[5]

वृहस्पति का मत है कि गम्भीर अपराध में सभी दण्डों को एक साथ दिया जाय । अर्थदण्ड तथा वधदण्ड देने का अधिकार केवल राजा में निहित था ।[6]

इस प्रकार हम स्पष्टतया यह देखते हैं कि प्राचीन भारत का प्रमुख द या तो जुर्माने के रूप में था अथवा वधदण्ड के रूप में था । वधदण्ड के अन्तर्गत जेल में बन्द करना, हथकड़ी बेड़ियों से जकड़ना, अंगच्छेद अथवा चिह्नांकित कर कोड़े लगाना तथा प्राणदण्ड भी निहित था । दण्ड का एक प्रकार अपराधी सार्वजनिक रूप से अपमानित करना भी होता था जिसके अन्तर्गत उसके अपराध सार्वजनिक स्थानों पर घोषणा, चिह्नांकन, गर्दभारोहण, शिरोमुण्डन आदि

देश-निष्कासन का भी दण्ड दिया जाता था । अब हम भारत में प्रचलित दण्ड के विभिन्न प्रकारों का अलग-अलग वर्णन निम्नलिखित रूप में करते हैं ।

वाग्दण्ड एवं धिग्दण्ड :

प्रारम्भिक वैदिक काल में वाग्दण्ड और धिग्दण्ड का प्रयोग अधिक होता था । अधिकतम अपराधों में प्रायश्चित्त था । उत्तरवर्ती काल में मृत्यु-दण्ड का उल्लेख मिलता है । उस समय अपराधों का वर्गीकरण सामाजिक एवं राजनीतिक आधार पर नहीं हो पाया था । परिणामतः विभिन्न दण्डों की स्थिति स्पष्ट हो रही थी । जहाँ एक तरफ प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-स्रष्टा कठोर दण्ड-व्यवस्था का प्रतिपादन कर रहे थे वहीं दूसरी तरफ छोटे अपराधों को प्रथम अथवा द्वितीय बार करने पर या अपराधी के अल्पायु होने पर अथवा अपराधी के उच्च जाति का होने पर, अपराधी को वाग्दण्ड अथवा धिग्दण्ड देने का भी विधान रच रहे थे । दण्ड के ये दोनों रूप (प्रकार) समाज के उच्च वर्गों के लिए ही थे । उस समय शूद्रों के लिए इन दण्डों की व्यवस्था नहीं की गयी थी ।

वाग्दण्ड की स्पष्ट व्याख्या करते हुए मनुस्मृति के भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने कहा है कि यदि अपराधी एक अच्छा व्यक्ति है और उसने एक छोटा सा अपराध किया है और वह भी प्रथम बार किया है तब उसे केवल इस तरह की झिड़की दे दो - "तुमने अच्छा कार्य नहीं किया है । सावधान ! फिर ऐसा दुष्कर्म मत करना ।"[7]

यह दण्ड मानव समाज के बुद्धिजीवी संवर्ग के लिए विशेष महत्त्व का होता है । 'एक वेद का ज्ञाता, आत्म सम्मानी एवं उच्च जाति के व्यक्ति के लिए, जिस

व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा है, उसे इस प्रकार का दण्ड अत्यन्त ही कष्टप्रद है और भविष्य के जीवन में वह अथवा उस वर्ग का अन्य मनुष्य भी कदापि वैसा अपराध करने का दुस्साहस नहीं कर सकता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनके ऊपर इस प्रकार के आदेश का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। उन्हीं व्यक्तियों के लिए ही धिग्दण्ड का विधान किया गया है।

धिग्दण्ड, वाग्दण्ड से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें न केवल झिड़की ही दी जाती थी, वरन् कठोर शब्दावलियों में अपराधी को धिक्कारते हुए उसकी भर्त्सना भी की जाती थी। यथा - "मूर्ख ! तुझे धिक्कार है, जीवित मत रहो, तुम्हारी हानि हो और तुम पाप के भागी बनो।"

वृहस्पति का कथन है कि जब अपराध बहुत हल्का है तब राजा वाग्दण्ड दे। प्रथम साहस के अपराध में धिग्दण्ड दे।[8] इतना ही नहीं, राजा गुरुजनों, पुरोहितों और आदरणीय व्यक्तियों को केवल वाग्दण्ड अथवा मधुर झिड़की दे तथा अन्य अपराधिजनों को अर्थदण्ड दे और जिन लोगों ने महापातक किये हों, उन्हें शारीरिक दण्ड दे।[9]

पाश्चात्य विद्वान् काणे ने उचित ही कहा है कि शाब्दिक उपदेश अथवा झिड़की रूपी दण्ड की दो विधियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि प्राचीन लेखक इस बात पर ध्यान देते थे कि अतिभावुक लोगों के लिए तथा भावुक समाज के बीच में दण्ड के उद्देश्य की सफलता के लिए शाब्दिक धिक्कार पर्याप्त है।[10]

दण्ड की ऊपर कही गयीं दोनों विधियाँ स्मृति-चिन्तकों की दूरदर्शिता

तथा उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है । वे सब जानते थे कि ये दण्ड भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालेंगे । जिस मनुष्य को अपने आत्म-सम्मान अथवा प्रतिष्ठा की जितनी ही अधिक चिन्ता होगी, वह इस प्रकार दण्डित होने से उतना ही अधिक प्रभावित होगा । अतएव यह दण्ड केवल समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रखा गया परन्तु उच्च वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति एक ही समान विचारधाराओं अथवा सामाजिक स्तर का नहीं होता है। उन सबके लिए अन्य प्रकार के दण्डों का विधान है । उदाहरण के लिए यदि एक ब्राह्मण जो समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं ज्ञानी है, उसके लिए यह दण्ड मृत्यु-तुल्य है, जबकि एक दूसरे ब्राह्मण के लिए जो समाज में प्रतिष्ठित नहीं हैं अथवा स्वभाव से अपराधी प्रकृति का है, तब उसके लिए यह दण्ड निरर्थक एवं महत्त्वहीन हो जायेगा ।

इसके अतिरिक्त यह दण्ड प्रथम बार अपराध करने पर ही दिया जाता था । बार बार आवृत्ति करने पर नहीं । इस दण्ड से समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जिस व्यक्ति ने पहली बार अपराध किया है, अभ्यस्त अपराधी हो जाने से बच जाता था । यह दण्ड उन व्यक्तियों पर वाञ्छित एवं अपेक्षित प्रभाव डालने में सफल होता था जो स्वभाव एवं प्रकृति से अपराधी नहीं हैं । किन्हीं दुर्बल क्षणों के वशीभूत होकर उन्होंने वह अपराध कर डाला है । ये दोनों दण्ड उस व्यक्ति को चेतावनी देते होंगे कि वह पुन: भविष्य में इस प्रकार के अपराध न कर सके ।

प्राचीन-राजनीति-वेत्ताओं ने अपराध करने वालों को मात्र दो ही

श्रेणियाँ मानी हैं - एक प्रकार के वे अपराधी होते हैं जो किसी परिस्थितिवश अपराध कर बैठते हैं। दूसरे प्रकार के अपराधी वे होते हैं जो स्वभावतः दुष्ट प्रकृति के होते हैं। अतएव दण्ड के प्रकारों पर इस बात का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है।

अर्थदण्ड (धनदण्ड) :

प्राचीन भारत में सबसे अधिक प्रचलित एवं विश्रुत दण्ड का प्रकार अर्थदण्ड अथवा जुर्माना ही था। अतएव भगवान् मनु ने दण्ड के दस स्थानों में अर्थदण्ड को भी एक स्थान माना है। स्वायंभुव मनु द्वारा वर्णित दण्ड के दस स्थान तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के लिए ही हैं, ब्राह्मणों के लिए नहीं। उसे तो देश से ही निकाल दिया जाय। उपस्थ, उदर, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, कान, देह और धन ये ही दण्ड के दस स्थान कहे गये हैं। इस प्रकार अपराधी को धनदण्ड देना भी दण्ड का एक प्रकार था।[11]

दास गुप्ता के विचार में अर्थदण्ड का उद्देश्य अपराधी द्वारा, जिसके प्रति अपराध हुआ है। उसकी क्षतिपूर्ति नहीं करना है, वरन् यह जुर्माने के रूप में दिये जाने वाले दण्ड थे और यह धन राजकोष में जाता था। क्षतिग्रस्त व्यक्ति का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था।[12]

दण्ड-विवेक में अर्थदण्ड दो प्रकार का बताया गया है :-

1. व्यवस्थित अर्थदण्ड, एवम्
2. अव्यवस्थित अर्थदण्ड।

व्यवस्थित अर्थदण्ड भी तीन प्रकार का अर्थात् प्रथम, मध्यम तथा उत्तम होता है। अव्यवस्थित अर्थदण्ड वह है जो अपराधानुसार न्यूनाधिक हुआ करता है। यह सामान्य रूप से दो प्रकार का होता है :-

क. पणादि के आधार पर, एवम्
ख. माषादि के आधार पर।[13]

बृहस्पति का कथन है कि धनदण्ड दो प्रकार का होता है :-

1. प्रथम प्रकार में सम्बन्धित धनराशि के अनुरूप होता था, एवम्
2. दूसरे प्रकार में व्यक्ति के महत्त्व के अनुरूप धनदण्ड निर्धारित होता था।[14]

व्यवस्थित तथा नियत अर्थदण्ड प्रथम साहस, मध्यम साहस, तथा उत्तम साहस इन तीन प्रकार का होता था। शंखलिखित के अनुसार प्रथम साहस चौबीस से इक्यान्बे तक, मध्यम साहस दो सौ से पाँच सौ तक और उत्तम साहस छः सौ से एक हजार तक होता है।[15]

भगवान् मनु का कथन है कि ढाई सौ पण का एक प्रथम साहस, पाँच सौ पण का मध्यम साहस तथा एक हजार पण का उत्तम साहस होता है।[16] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि प्रथम साहस दो सौ सत्तर पण, मध्यम साहस पाँच सौ चालीस पण एवं उत्तम साहस एक हजार अस्सी पण का होता है।[17]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थदण्ड को तीन श्रेणियों में रखा गया है, इनमें अन्तर केवल पणों की संख्या का है। अपराधानुरूप अर्थदण्ड की राशि निर्धारित

की जाती थी । प्रारम्भिक समाज में पशुओं के रूप में भी अर्थदण्ड दिया जाता था ।

आपस्तम्ब का कथन है कि क्षत्रिय को मारने वाला एक हजार गाय, वैश्य को मारने पर सौ गाय, शूद्र को मारने पर दस गाय, ब्राह्मण को प्रायश्चित के लिए दे और एक बैल अलग से दे । ब्राह्मण की हत्या का प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है ।[18]

अब यह जिज्ञासा होना आवश्यक है कि इन पणों से किस धातु के सिक्कों का बोध होता है । वर्धमान का विचार है कि दण्ड एवं अपराध की परिस्थितियों के अनुसार मुद्राओं को चाँदी अथवा सोने की मानना चाहिए ।[19]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार दस धान्य माष एक 'सुवर्ण माषक' अथवा पाँच गुञ्जा के समकक्ष होते हैं । सोलह माष ﴾उड़द﴿ का एक सुवर्ण या एक कर्ष ﴾अथवा एक सुवर्ण कर्ष﴿ होता है । चार कर्ष का एक पल होता है । अट्ठासी गौरसर्षप के बराबर एक 'रूप्यमाषक' होता है । सोलह 'रूप्यमाषक' अथवा बीस सेम के दाने का एक 'धरण' होता है । बीस अक्षत तण्डुल का एक 'वज्रधरण' होता है । अर्ध माषक, माषक, दो माषक, चार माषक, आठ माषक, एवं सुवर्ण, दो सुवर्ण, चार सुवर्ण, आठ सुवर्ण, दस सुवर्ण, बीस सुवर्ण, तीस सुवर्ण, चालीस सुवर्ण एवं सौ सुवर्ण ये चौदह प्रतिमान हैं ।[20]

भगवान् मनु का आदेश है कि चार सुवर्ण का एक पल, दस पल का एक धरण, और भार में दो रत्ती चाँदी का एक रौप्य माषक समझें । सोलह रौप्य माषकों

का एक धरण अर्थात् रौप्य पुराण तथा एक कर्ष ताम्र को कार्षापण अथवा पण कहते हैं ।[21]

अर्थदण्ड व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार लगाना चाहिए । भगवान् मनु कहते हैं कि सामान्य पुरुष जिस अपराध में एक कार्षापण दण्ड पाता है, यदि उसी अपराध को राजा स्वयं करे तो वह एक हजार पण दण्ड का भागी होता है ।[22]

वर्धमान का कथन है कि अर्थदण्ड ऐश्वर्य के अनुसार होना चाहिए ।[23] कुछ अपराधों में मनुष्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता था । भगवान् मनु के मत से अकामपूर्वक महापातकों के करने वाले क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का सर्वस्वहरण करके उन्हें दण्डित करें तथा कामपूर्वक अपराध करने वालों को देश से निकाल देवें ।[24]

इसके अतिरिक्त अन्य अपराधों में सम्पूर्ण सम्पत्ति के अपहरण का दण्ड दिया जाता था । जहाँ पर सम्पूर्ण सम्पत्ति के अपहरण का निर्देश है वहीं हमारे प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेता इस बात के लिए भी चिन्तित थे कि ऐसे दण्ड से अपराधी की जीविका को आघात न लगे ।

नारद के अनुसार सम्पूर्ण सम्पत्ति के अपहरण का आदेश देते हुए राजा को चाहिए कि वह सैनिकों के आयुध, शिल्पियों के अपने शिल्प के उपकरण, वेश्याओं के आभूषण, वाद्ययन्त्रों के बनाने वालों के वाद्ययन्त्र अर्थात् जिनकी आजीविका के जो साधन हैं उन साधनों को तथा कारू लोग जिससे अपनी जीविका चलाते हैं, उन उपकरणों का अपहरण करने का आदेश न दिया जाय ।[25] यम एवं हलायुध का मत

है कि सर्वस्वहरण में राजा कम से कम ‌(चतुर्थांश) छोड़ दे ।[26]

भगवान् मनु का कथन है कि धर्मात्मा राजा महापातकियों के धन को ग्रहण न करे क्योंकि लोभ से उनके धन को ग्रहण करता हुआ राजा उस (महापातक) दोष से युक्त हो जाता है । राजा इन पातकियों के धन को जल में डालकर वरुण को दे देवे अथवा शास्त्र एवं सदाचार से सम्पन्न ब्राह्मण को दे देवे, क्योंकि महापातकियों के अर्थदण्ड को ग्रहण करने वाला स्वामी वरुण है । अतएव यही राजाओं के भी अर्थदण्ड को ग्रहण करने वाला है, तथा वेदपारंगत ब्राह्मण सम्पूर्ण संसार का स्वामी है । अत: महापातकियों के धन को वे दोनों ही ग्रहण करने के अधिकारी हैं । जिस राज्य में राजा ऐसा करता है उसके राज्य में यथासमय मनुष्य उत्पन्न होते हैं एवं वे दीर्घजीवी होते हैं । वैश्यों के खेतों में बोये गये बीज यथासमय यथावत् अलग-अलग उत्पन्न होते हैं । (अकाल में) बालक नहीं मरते हैं और कोई प्राणी विकृत उत्पन्न नहीं होता है ।[27]

नारद का भी मत है कि यदि श्वपाक, मेद (वर्ण संकर जाति), अंगभंगी, हस्ति व व्रात्य, दास, गुरुजनों एवं आध्यात्मिक गुरु की अवमानना करने वाला यदि अपनी सीमा के बाहर जाता है, तो उन्हें वे लोग उसी समय दण्डित कर सकते हैं । उन्हें शारीरिक दण्ड दिया जा सकता है, अर्थदण्ड नहीं, क्योंकि ऐसे लोग समाज के मल हैं । अत: उनकी सम्पत्ति भी अपवित्र होती है ।[28]

महाभारत में भीष्म का कथन है कि राजा को अपराध के अनुपात से ही दण्ड देना चाहिए । धनी अपराधी हो तो जुर्माना व समस्त सम्पत्ति के अपहरण

का दण्ड देना चाहिए । इसके विपरीत यदि निर्बल अपराधी हो तो बन्दी बना-कर कारागार में डाल दिया जाय ।[29] अन्य स्थल पर भीष्म कहते हैं कि दुष्टों का दमन करना ही दण्ड का मुख्य उद्देश्य है । स्वर्णमुद्रायें लेकर खजाना भरना नहीं ।[30]

कात्यायन का कहना है कि शूद्र, धूर्त, दास, म्लेच्छ, पापाचारियों एवं प्रतिलोमियों को कभी भी अर्थदण्ड न दें, अपितु शरीर ताड़नादि दण्ड दें ।[31] पुनः कात्यायन का मत है कि धन दण्ड देने में सक्षम जानकर ब्राह्मण अपराधी को बन्धन (जेल) में रखे । काम करावे । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस प्रकार कार्य करके दण्ड पूरा करे । ब्राह्मण स्वगृह में रहकर दण्ड पूरा करे ।[32]

महाभारत में कहा है कि वैश्य से धन दण्ड ले परन्तु शूद्र दण्डरहित कहा गया है । सेवा लेने के सिवा और अन्य दण्ड उसके लिए नहीं है ।[33]

आचार्य कौटिल्य का विचार है कि सूत्राध्यक्ष को ऐसी स्त्रियों को भी काम पर रखने के लिए निर्देशित करना चाहिए जिन्हें अर्थदण्ड दिया गया है और उसे काम करके चुकाना है ।[34] इसी प्रकार कृषि विभाग के अध्यक्ष को भी सजा प्राप्त कैदियों से जमीन जुतवाकर अर्थदण्ड वसूल करने का निर्देश दिया गया है ।[35] दण्ड प्राप्त व्यक्ति कर्म द्वारा दण्ड मुक्ति प्राप्त करे ।[36]

भगवान् मनु का विचार है कि राजा के द्वारा दण्ड प्राप्त क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अर्थदण्ड देने में यदि असमर्थ है तो राजा उनसे काम लेकर अर्थदण्ड की पूर्ति करे और यदि ब्राह्मण दण्ड द्रव्य देने में असमर्थ है तो राजा उससे धीरे धीरे अर्थ-

दण्ड वसूल करे ।[37]

कात्यायन का मत है कि वे अपने स्वामी नहीं कहे जाते जो परतन्त्र हैं अथवा किसी के दास हैं। उनका दण्ड ताडन ही है। ताड़न, बन्धन, बिडम्बन यही दण्ड दास के लिए हैं। उनके लिए अर्थदण्ड नहीं है। वे भुगतान कहाँ से करेंगे।[38]

दण्ड विवेक के अनुसार अपराधिनी स्त्री यदि धनी है तो अर्थदण्ड दे, अन्यथा ताड़न दें।[39] कात्यायन का भी मत है कि स्त्री अपने स्त्रीधन से अर्थ-दण्ड दे, किन्तु यदि अपराधिनी स्त्री के पास कोई सम्पत्ति नहीं है तो उसे ताड़न का दण्ड दें।[40] अतः स्त्रियों को अर्थदण्ड देने के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतैक्य नहीं है।

भगवान् मनु का विचार था कि स्त्री, बालक, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र, अपराधियों को पेड़ों की जड़ अथवा बाँस से अथवा रस्सी से दण्डित करे।[41]

<u>वध दण्ड</u> :

दण्ड का चतुर्थ प्रकार वध दण्ड कहा गया है। इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि वधदण्ड का तात्पर्य मात्र मृत्युदण्ड ही नहीं है, वरन् ताड़न, जेल में डालना, बेड़ी डालना, अंगच्छेद तथा मृत्युदण्ड भी इसके अन्तर्गत आता है। दण्ड विवेक के अनुसार चतुर्थ दण्ड वध दण्ड है जो तीन प्रकार का होता है जो निम्न प्रकार है :-

(क) पीड़न, (ख) अंगच्छेद, एवम् (ग) प्रमापण।

इसमें पीडन चार प्रकार का होता है :-

1. कशाघात : चाबुक आदि से पिटाई,
2. अवरोधन : जेल में डालकर कर्मो को नियन्त्रित करना,
3. बन्धन : बेड़ी आदि पहना देना, एवम्
4. विडम्बन : मुण्डन, गर्दभारोहण, नगर भ्रमण व चिह्नाङ्कन ।

अङ्गच्छेद चौदह प्रकार का होता है :-

1. हाथ,
2. पैर,
3. लिंग,
4. नेत्र,
5. जीभ,
6. दोनों कान,
7. आधी जीभ,
8. आधा पैर,
9. तर्जनी, व अंगूठा साथ-साथ
10. नासिका,
11. मस्तक,
12. ओष्ठ,
13. गुदा एवम्
14. कमर ।

भगवान् मनु के अनुसार दस ही हैं :-

1. उपस्थ,
2. उदर,
3. जीभ,
4. हाथ,
5. पैर,
6. नेत्र,
7. नासिका,
8. कान,
9. धन, एवम्
10. देह ।

यहाँ देह दण्ड मारणार्थ है ।

प्रमापण दो प्रकार का होता है :-

1. शुद्ध प्रमापण एवं
2. मिश्र प्रमापण ।

शुद्ध प्रमापण भी दो प्रकार का होता है :-

(क) अविचित्र तथा

(ख) विचित्र ।

मिश्र प्रमापण :

यह अङ्गच्छेद के साथ ही अन्य दण्डों का भी आश्रय ग्रहण करता है ।[42]

दण्ड विवेक में वर्द्धमान द्वारा वर्णित यह वर्गीकरण धर्मशास्त्रों में विहित दण्ड-व्यवस्था का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । प्राचीन भारत में दिये जाने वाले कठोर, शारीरिक दण्डों का ज्ञान इससे प्राप्त होता है । यहाँ यह वर्णनीय है कि मृत्युदण्ड अथवा शारीरिक दण्डों का निर्देश केवल तीन जातियों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के लिए ही किया गया है । ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता है ।

भगवान् मनु दण्ड के दस स्थानों का उल्लेख करते हैं जो तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के लिए है तथा ब्राह्मण पीड़ा रहित कहा गया है, अर्थात् उसे बिना किसी प्रकार दण्डित किये केवल राज्य से निकाल दिया जाता है ।[43]

इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड का विधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि 'अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ।' दण्ड के ये स्थान दस से और अधिक भी हो सकते हैं ।

वृहस्पति ने दण्ड के चौदह स्थान बताये हैं । पूर्वोक्त दण्ड के स्थानों

की सूची में गर्दन, अंगूठा एवं तर्जनी, मस्तक, अधर, पिछला भाग, नितम्ब तथा आधा पैर भी जोड़ा गया है ।[44] किन्तु ब्राह्मण के लिए बृहस्पति भी इन दण्डों का विधान नहीं करते हैं । उनके अनुसार ब्राह्मण के मस्तक पर चिह्न अंकित करना ही एकमात्र दण्ड है ।[45] ब्राह्मण चाहे महापातक ही क्यों न किया हो उसे शारीरिक दण्ड नहीं मिलेगा । राजा उसे निष्कासन या चिह्नाङ्कन या मुण्डन का दण्ड दे सकता है ।[46] इस प्रकार के सम्पूर्ण पापों का कर्त्ता भी ब्राह्मण अवध्य है । उसकी पूरी सम्पत्ति के साथ उसे देश-निष्कासन का दण्ड दिया जा सकता है ।[47]

नारद भी ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड देने का निषेध करते हैं । ब्राह्मण के लिए सिर-मुण्डन, देश-निष्कासन, मस्तक पर चिह्नाङ्कन और गधे पर बैठाकर घुमाना ही देय दण्ड है ।[48]

यम के अनुसार ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए ।[49] याज्ञवल्क्य का भी मत है कि जहाँ चोरी के अपराध में अन्य वर्णों के लोगों को विभिन्न तरह के शारीरिक दण्डों से दण्डित किया जाय वहाँ ब्राह्मण के ललाट पर चिह्न बनाकर उसे राज्य से निकाल देवे ।[50]

आचार्य कौटिल्य जैसे उदार चिन्तक भी युग की प्रचलित रीति से अपने को अछूता नहीं रख सके एवं उन्होंने कहा कि समस्त अपराधों में ब्राह्मण को पीड़ित न किया जाय । व्यवहार में पतित करने के लिए उसके ललाट पर अप-राध का चिह्न अंकित कर दिया जाय, चोरी करने पर श्वान, मनुष्य वध करने

पर कबन्ध, गुरुतल्प गमन पर भग एवं सुरापान करने पर मद्यध्वज अंकित किया जाय। इतना ही नहीं राजा पापकर्मी ब्राह्मण को उक्त प्रकार से चिह्नित कर एवं उसके उसके दुष्कृत्य की घोषणा कर देश से निकाल दे अथवा आकरों में बसाये ।[51]

कात्यायन के अनुसार राजा को किसी ब्राह्मण को कदापि मृत्युदण्ड नहीं देना चाहिए । चाहे उसने जो भी अपराध क्यों न किया हो । राजा को चाहिए कि बिना शारीरिक दण्ड दिये सम्पूर्ण सम्पत्ति ग्रहण कर उसे देश से निष्कासित कर दे ।[52]

बौधायन का भी कहना है कि किसी भी प्रकार के अपराध में ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए ।[53]

महाभारत में भी देवव्रत भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि तुम्हें ब्राह्मणों को कभी दण्ड नहीं देना चाहिए, क्योंकि संसार में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है । यदि ब्राह्मण अपराध करें तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्य की सीमा से बाहर कर देना चाहिए । ब्रह्महत्या, गुरुपत्नी गमन, भ्रूण-हत्या तथा राज-द्रोह के अपराध होने पर भी ब्राह्मण को देश से निकाल देने का विधान है ।[54]

मृच्छकटिकम् नामक नाटक में भी मनु के इस कथन को उद्धृत किया गया है कि ब्राह्मण को वध दण्ड नहीं देना चाहिए, फिर भी इस नियम के विपरीत कार्य होना हम वहाँ देखते हैं ।[55]

भगवान् मनु का कथन है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त सिर-मुण्डन उस स्त्री के लिए भी विहित है, जिसने किसी कन्या का गुप्ताङ्ग अपवित्र कर दिया हो।

ब्राह्मण के सिर को मुड़ा देना ही उसके लिए मृत्युदण्ड है जबकि अन्य वर्णों के लिए प्राण-वध ही मृत्युदण्ड कहा गया है ।[56]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था की है कि किसी भी अपराध में ब्राह्मण को मृत्युदण्ड अथवा शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए । ब्राह्मणों को जो भी दण्ड दिये जाते थे, वे उसे सामाजिक रूप से अपमानित करने वाले रहते थे । जैसे गधे पर बैठाना, देश-निष्कासन तथा चिह्नाङ्कन आदि ।

चिह्नाङ्कन :

किये हुए अपराधानुरूप चिह्न अंकित करके ब्राह्मण अपराधी को अपने राज्य या देश से निर्वासित कर देना एक मुख्य दण्ड था । इस तरह चिह्नाङ्कन का उद्देश्य अपराधी को अपमानित करना था । वह जहाँ जाता था, यही चिह्न उसके अपराध की घोषणा करता था । विभिन्न अपराधों के लिए अलग - अलग चिह्न थे । मुख्यतया यह दण्ड ब्राह्मणों को ही मिलता था परन्तु अन्य वर्णों के लिए भी इस प्रकार के दण्ड का विधान किया गया है ।

भगवान् मनु का कथन है कि ब्रह्मघाती, सुरापी, चोर और गुरुतल्पगामी को महापातकी समझें । ये चारों यदि प्रायश्चित्त न करें तो राजा उन्हें धर्मसंगत आर्थिक और दैहिक दण्ड दे । गुरुतल्पगामी के ललाट पर भग का, सुरा पीने वाले के ललाट पर मद्यध्वज का, चोर के श्वान के पैर का, तथा ब्रह्मघाती के ललाट पर शिररहित पुरुष का चिह्नाङ्कन करा देवे ।[57]

आचार्य कौटिल्य भी ब्राह्मण के मस्तक पर चोरी करने पर कुत्ते का निशान, मानव-वध में धड़ का चिह्न, गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने पर योनि का चिह्न, मद्यपान पर सुरापात्र का चिह्न अंकित करवाने का स्पष्ट निर्देश करते हैं ।[58]

नारद भी गुरुपत्नीगामी के मस्तक पर भग का चिह्न, मद्यपी के ललाट पर मदिरा का चिह्न, स्तेय में कुत्ते के पैर का चिह्न एवं ब्रह्म-हत्या करने पर शिर-विहीन मानव का चिह्न अंकित करने के विषय में ब्राह्मण को उक्त चार अपराधों के लिए उसके ललाट पर चिह्न अंकित करने का दण्ड देना चाहिए ।[59]

आचार्य कौटिल्य जिन्हें मनुष्य की शक्ति का प्रयोग खूब आता था, का कथन है कि पापी ब्राह्मण के मस्तक पर ये चिह्न दाग कर समग्र जनता में इस बात की घोषणा की जाय, राजा उसे देश से निकाल दे या तो उसे खानों (आकरों) में रहने की आज्ञा दी जाय ।[60] इस प्रकार यदि व्यक्ति को देश से निकाल दिया गया तो उसकी शक्ति का प्रयोग देश अपने लिए नहीं कर पायेगा । इसके विपरीत जब वह आकरों में रहकर कार्य करेगा तो निश्चित रूप से राजकीय आय की वृद्धि होगी ।

भगवान् मनु ब्राह्मण को केवल उसी दशा में चिह्नित करने के लिए निर्देशित करते हैं जबकि वह प्रायश्चित्त न किया हो । उनका कहना है कि यदि अपराधी ने शास्त्र-विहित प्रायश्चित्त कर लिया है तो ललाट पर चिह्न अंकित करने की कोई आवश्यकता नहीं है चाहे वह व्यक्ति जिस वर्ण का हो ।[61]

इस प्रकार यह देखा गया कि स्मृतिकारों ने यह विधान किया कि किसी भी तरह के अपराध में ब्राह्मण को शारीरिक अथवा मृत्युदण्ड नहीं दिया जाय । उसके स्थान पर चिह्नांकन, देश-निष्कासन शिरोमुण्डन आदि दण्ड दिये जाने चाहिए ।

कतिपय विद्वानों के लिए यह आपत्तिजनक हो सकता है कि जिस अप-राध के लिए अन्य वर्णों के व्यक्तियों को मृत्युदण्ड प्राप्त होता था वहीं ब्राह्मण के मस्तक पर चिह्नांकन करके देश-निष्कासन ही उसका दण्ड था । प्राचीन भारत में दण्ड-व्यवस्था पक्षपातपूर्ण था, ऐसा सोचना पूर्णरूपेण असत्य है, वर्ण-व्यवस्था से कठोरता के साथ नियन्त्रित समाज में चारों वर्णों में श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति के मस्तक पर उसके अपराधानुरूप द्योतक चिह्न का अंकन कर दिया जाता तो वे उसके लिए उतने ही पीड़ाकारक होते थे जितना कि अन्य वर्णों को प्राप्त मृत्युदण्ड । उसके मस्तक पर अंकित ये चिह्न हर-स्थान एवं हर-समय में उसके अपराध की घोषणा करते थे । इसके विपरीत यदि वह भी अन्य प्रकार के दण्ड से दण्डित हुए होते चाहे वह अंगच्छेद या मृत्युदण्ड ही क्यों न होता वे जीवनपर्यन्त के लिए अपराधी तो न कहलाते । इसके साथ ही वे समाज में घृणित एवं अपने कुल, जाति, नगर अथवा राष्ट्र से बहिष्कृत होते थे । साथ ही साथ धार्मिक कार्यों से भी वंचित कर दिये जाते थे ।

भगवान् मनु ने स्वयं कहा है कि ये चतुर्विध महापातकी असंयोज्य (भोजन देने के अयोग्य), असंयाज्य (यज्ञादि सत्कर्म कराने के अयोग्य), असंपाठ्य (पढ़ाने के अयोग्य), अविवाह्य (कन्यादान के अयोग्य), समस्त धर्म से बहिष्कृत एवं दान

होकर पृथ्वी पर घूमा करें । इन चिह्नित सभी महापातकियों को सभी सम्बन्धी त्याग दें, इन पर दया प्रदर्शित न करें, और ये नमस्कार के अयोग्य होते हैं ।[62]

देश-निष्कासन :

देश-निर्वासन का दण्ड सामान्यतया ब्राह्मण अपराधी को महापातक करने पर मिलता था । इस अपराध में जहाँ अन्य तीन वर्णों के व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड मिलता था, वहीं ब्राह्मण अपराधी को देश से निकाल दिया जाता था । आचार्य कौटिल्य तो यहाँ तक कहते हैं कि राजा पाप करने वाले ब्राह्मण को ललाट आदि पर चिह्नित करने के बाद एवं उसके अपराध की घोषणा करके, देश से निकाल दिया जाय अथवा आकरों में बसाया जाय ।[63]

भगवान् मनु का कहना है कि किसी प्रकार का भी पाप करने पर ब्राह्मण को न मारा जाय, उसका सम्पूर्ण धन तथा अभग्न शरीर के सहित देश से निकाल दिया जाय ।[64]

पुन: भगवान् मनु कहते हैं कि जुआरियों (जुआ खेलने एवं खिलाने वाले), कुशीलवों (नाचने गाने वाले), वेदशास्त्र के विरोधियों, पाखण्डियों, आपत्तिकाल न होने पर भी दूसरों का जीविका हरण करने वाले एवं मद्य बनाने वाले लोगों को राजा राज्य से यथाशीघ्र बाहर कर दे । ग्रामवासी, देशवासी अथवा व्यापारी आदि के समुदाय का जो व्यक्ति सत्यादि शपथपूर्वक कार्य की प्रतिज्ञा ले, फिर उस कार्य को पूर्ण न करे तो राजा उसे राज्य से निर्वासित कर दे ।[66]

कारावास :

दोषी को दण्डित करने का एक उपाय उसे जेल में बन्द करना भी था। इसमें उसे अपने कौटुम्बिक जनों एवं सम्बन्धियों से अलग करके किसी ऐसे स्थान पर रखा जाता था जहाँ उसके ऊपर कड़ा पहरा रहता था ताकि वह बाहरी संसार से कोई सम्पर्क न कर सके। ये स्थान ही कारागार अथवा जेल कहलाये। इस तरह जेल में बन्द किये जाने का अर्थ है - अपराधी की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना और उसे निर्धारित समय तक स्थिर रखना। आचार्य कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से ज्ञात होता है कि अपराधियों को जेल में बन्द करना दण्ड का एक प्रसिद्ध प्रकार है। कौटिल्य अनेक प्रकार के अपराधों में अपराधी को जेल में बन्द किये जाने का निर्देश देते हैं। आचार्य कौटिल्य जेल को चारक एवं बन्धनागार कहते हैं और जेलर को बन्धनागाराध्यक्ष।[67]

भगवान् मनु अपराधियों को दण्डित अथवा निग्रह करने के तीन उपाय बताये हैं, जो निम्न प्रकार हैं :-

1. निरोध : कैदखाने में बन्द करना,
2. बन्धन : हथकड़ी-बेड़ी आदि डालना, एवम्
3. वध : विविध प्रकार के शारीरिक दण्ड देकर।[68]

अन्यत्र भगवान् मनु पति आदि से सुरक्षित ब्राह्मणी के साथ संभोग करने पर वैश्य को एक वर्ष तक जेल में रखने के बाद सर्वस्वहरण का दण्ड देने का उल्लेख करते हैं।[69]

कात्यायन के अनुसार वध दण्ड पाये हुए ब्राह्मण को कारागार में रखने का निर्देश करते हैं ताकि वह दैनिक-क्रिया-योगादि न कर सके। उसकी धार्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण होगा यही दण्ड है।[70]

भगवान् मनु का कथन है कि यदि अपराधी जुर्माना नहीं देता है तो उसे श्रम करना पड़ेगा जो कि जेल में बन्द किये जाने की ओर संकेत करता है।[71]

कैदियों को दी जाने वाली यातनाओं का उल्लेख रामायण में भी प्राप्त होता है। शरीर को शूल से छेद डालना, या तलवार से दो भागों में काट डालना, कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना, कैदी को आग पर सेंकना या जला डालना।[72]

भगवान् मनु भी कैदी की दशा का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार, राजा सब प्रकार के बन्धनगृह राजमार्ग (सड़क) के किनारे बनवाये ताकि बन्दियों के दु:ख भोगने को सब लोग देख सकें।[73]

आचार्य कौटिल्य ने जेलों की सुव्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया है। धर्मस्थीय चारक अथवा बन्धनागार में शयन, आसन, भोजन, उच्चार, संचार एवं बन्धनकर्त्ता एवं कारयिता पर उत्तरोत्तर तीन पण दण्ड अधिक लगाया जाय। चारक से अभियुक्त को मुक्त अथवा पलायित करने वाले पर मध्यम साहस दण्ड लगाया जाय, तथा अभियोग दान लिया जाय, बन्धनागार से उक्त कार्य करने वाले का सर्वस्व हरण तथा वध किया जाय। बन्धनागाराध्यक्ष की अनुमति के बिना बन्दी को भ्रमण कराने वाले पर चौबीस पण, उससे काम कराने वाले पर

अड़तालीस पण, उसका स्थान परिवर्तित करने वाले अथवा अन्नपान अवरुद्ध करने वाले पर छान्बे पण, परिक्लेश या उत्कोट करने वाले पर, मध्यम साहस दण्ड, वध करने वाले पर, एक हजार पण दण्ड लगाया जाय ।[74]

इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य की दृष्टि में एक कैदी का जीवन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना राज्य के अन्य व्यक्तियों का । कैदी के साथ कोई दुर्व्यवहार न हो, इस विषय में वह बहुत ही सतर्क थे । साथ ही साथ जेल का अनुशासन किसी भी स्थिति में भंग नहीं होना चाहिए । इस सम्बन्ध में आचार्य की कठोर नीति दिखाई देती है । आचार्य कौटिल्य ने स्वयं लिखा है कि इस प्रकार राजा को चाहिए कि पहले वह अपने कर्मचारियों को दण्ड देकर शुद्ध करे, फिर वे विशुद्ध होकर दण्ड-व्यवस्था द्वारा जनता को सही रास्ते पर लायें।[75]

जेल में स्त्री एवं पुरुष दोनों कैद किये जाते थे । आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि कारागृह में स्त्री एवं पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थान होने चाहिए।[76] स्त्री बन्दियों की पवित्रता की रक्षा के लिए कौटिल्य ने लिखा है कि दासी स्त्री यदि किसी कारणवश जेल में बन्द कर दी जाय और उससे कोई राजपुरुष व्यभिचार करे तो प्रथम साहस दण्ड दिया जाय, अदासी (गणिका) के साथ गमन करने पर, मध्यम साहस दण्ड, अवरोध (किसी की) स्त्री के साथ गमन करने पर, उत्तम साहस दण्ड लगाया जाय और कुलीन स्त्री के साथ गमन करने पर, उसको वध किया जाय।[77] स्त्री कैदियों के अतिरिक्त जेल में बाल अपराधी भी होते थे ।[78]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय में इस बात का विशेष ध्यान दिया

जाता था कि स्त्री व पुरुष कैदी आपस में यौन सम्बन्ध स्थापित न कर पायें ।

जेल से छूट (मुक्ति) :

प्राचीन आर्यावर्त में कतिपय ऐसे अवसर भी होते थे, जब कारागृहों के द्वार खोल दिये जाते थे । आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि किसी नये देश को जीतने पर, युवराज का राज्याभिषेक होने पर और राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को छोड़ देना चाहिए ।[79] कौटिल्य जेल में बन्द बूढ़े, बच्चे, बीमार और अनाथ कैदियों को राजा की वर्षगाँठ आदि अच्छे उत्सवों अथवा पूर्णिमा आदि पर्वों पर छोड़ने का विधान करते हैं ।[80]

मालविकाग्निमित्रम् में कहा गया है कि कभी-कभी राजा के क्रूर ग्रहों के प्रभाव को दूर करने के लिए भी कैदियों की मुक्ति की जाती थी ।[81]

मृच्छकटिकम् में कुछ परिस्थितियों का उल्लेख है कि जिनमें बध्य-बन्दियों की मुक्ति हो जाती है । यथा - राजा को पुत्ररत्न,की प्राप्ति, राज्य-परिवर्तन आदि ।[82]

हर्षचरित में हर्ष के जन्म पर प्रभाकर वर्द्धन द्वारा कैदियों को मुक्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[83]

कवि शिरोमणि कालिदास भी युवराज के राज्याभिषेक एवं पुत्र-जन्म पर बन्दियों को कारागृह से मुक्त करने को कहते हैं ।[84]

कैदी अपने अच्छे व्यवहार के कारण भी मुक्त हो जाते थे । वे कैदी भी

मुक्त हो जाते थे जो भविष्य में अच्छा जीवन बिताने की प्रतिज्ञा किया करते थे।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार धोखे से यदि कोई पुण्याचरण व्यक्ति अपराधी बनाकर कैद में डाला गया हो तो ऐसे व्यक्ति जो भविष्य में अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता हो, उन्हें अपराध के बदले में धन लेकर छोड़ देना चाहिए।[85] इसके अतिरिक्त आचार्य कौटिल्य का मत था कि प्रतिदिन अथवा प्रति-पाँचवें दिन ऐसा नियम बना लिया जाय कि उस दिन धन लेकर शारीरिक दण्ड अथवा काम कराकर कुछ कैदी छोड़े जायँ। धन-दण्ड, शारीरिक दण्ड अथवा कार्य-दण्ड इन तीनों में से जो कैदी आसानी से जिस दण्ड को भुगत सके वही दण्ड उसको दिया जाय।[86]

इस प्रकार इससे यह स्पष्ट होता है कि बन्दी व्यक्ति को प्रत्येक संभव अवसर दिया जाता था कि वह अपनी आदत (आचरण) को सुधार ले एवं जेल से बाहर एक सुधरे हुए नागरिक के रूप में निकले। इसके अतिरिक्त राज्य स्वयं अनेक अवसरों पर बन्दियों को मुक्त करता था।

अङ्गच्छेद तथा प्रतारणा :

प्राचीन भारत में अपराधी को दण्डित करने का एक प्रकार अङ्गच्छेद भी होता था। दण्ड-विवेक में वृहस्पति को उद्धृत करते हुए अंगच्छेद के चौदह प्रकार बताए गये हैं। यथा -

हाथ, पैर, लिंग, नेत्र, जिह्वा, कान, आधी जीभ, आधा पैर, तर्जनी, व अंगूठा, नासिका, मस्तक, ओष्ठ, गुदा तथा कमर।[87]

भगवान् मनु ने भी दण्ड के दस स्थानों का वर्णन किया है। वे निम्न-लिखित हैं :-

उपस्थ, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र, कान, नाक, देह और धन।[88]

इनमें शरीर (देह) मृत्युदण्ड तथा धन अर्थदण्ड के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि शरीर के विभिन्न भागों को दण्डित किया जाता था। मनु ने तीनों वर्णों के लिए ही दण्ड के दस स्थानों को बताया है। ब्राह्मण को बिना किसी प्रकार दण्डित किये राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए।[89] शूद्र, ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के व्यक्तियों के प्रति शरीर के जिस अंग के प्रति अपराध करे उसका वह अंग कटवा लिया जाता था। यदि वह अप-शब्द कहता था तो जीभ, हाथ से प्रहार करता था तो हाथ और पैर से प्रहार करने पर पैर कटवा लिया जाता था।[90]

शूद्र यदि ब्राह्मण के साथ उसी आसन पर बैठने की इच्छा करे तो उसके कटि प्रदेश में गर्म लौह से दागकर निकाल दे अथवा उसके नितम्ब को उस प्रकार काटे कि मरे नहीं। शूद्र यदि ब्राह्मण का अपमान दर्प के कारण थूक फेंककर करे तो राजा उसके दोनों ओठों को, मूत्र फेंककर करे तो राजा उसके लिंग को तथा अधोवायु करे तो गुदा को कटवा ले। अहंकारवश जो शूद्र ब्राह्मण के केश, पाँव, दाढ़ी, कण्ठ या अण्डकोश पकड़े तो उसके दोनों हाथ कटवा दिये जायँ।[91]

चोर जिस जिस अंग से जिस प्रकार चोरी करे, उसके उस उस अंग को राजा कटवा दे ताकि फिर वैसा अवसर न आये।[92] चोरों और जेबकतरों के

हाथ-पाँव कटवाने की व्यवस्था थी।[93] शूद्र यदि उच्च जाति की स्त्री के साथ सम्भोग करे तो उसका लिंग काट लिया जाय।[94]

याज्ञवल्क्य वध के लिए शस्त्रादि उठाने पर क्रमशः प्रथम साहस, और मध्यम साहस का आधा दण्ड देने को कहते हैं।[95] चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में अंगच्छेद व मृत्युदण्ड दिये जाते थे, यह मैगस्थनीज के विवरण से भी स्पष्ट होता है।[96]

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि कुछ ऐसे गम्भीर अपराध होते थे जिनमें ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य तीन वर्णों के व्यक्तियों को अत्यन्त पीड़ाकारक शारीरिक दण्ड दिये जाते थे।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार लोक व्यवहार में चार प्रकार के दण्ड प्रचलित हैं :-

1. छः डण्डे मारना,
2. सात कोड़े मारना,
3. हाथ-पैर बाँधकर लटकाना एवम्
4. नाक में जल डालना।[97]

इसके अतिरिक्त अत्यधिक पापियों पर निम्नलिखित दण्ड और दिये जायँ :-

1. नव बेंत प्रहार,
2. बारह कोड़े,

3. दो उरूवेष्टन (दो रस्सियों से अलग अलग उरू को बाँधना),
4. बीस नक्तमाल दण्ड प्रहार (काली छड़ी से प्रहार),
5. बत्तीस चपेटा प्रहार,
6. दो वृश्चिक बन्ध,
7. दो उल्लम्बन (हाथ बाँधकर लटका देना तथा दोनों पैर उल्टे बाँधकर लटकाना),
8. हाथ के नख में सुई बेधना,
9. यवागूपीत व्यक्ति की अंगुली का एक पोर जलाना,
10. स्नेहपीत को एक दिन धूप में तपाना, एवम्
11. शिशिर ऋतु की रात्रि में बल्वज शय्या पर शयन कराना ।

ये ग्यारह दण्ड कर्म कहे गये हैं ।[98]

उपर्युक्त दण्डों को देने के पहले आचार्य कौटिल्य, आचार्य खरपट्ट के दण्डशास्त्र विषयक ग्रन्थ को पढ़ने को कहते हैं । चोरी आदि के गम्भीर अपराधों में बन्दियों को इस प्रकार के दण्ड दिये जाते थे, किन्तु कौटिल्य गर्भिणी और एक महीने से कम प्रसूता स्त्री को इस प्रकार के दण्ड देने का निषेध करते हैं । उनके अनुसार स्त्रियों को पुरुषों से आधा दण्ड दिया जाय । अथवा वाग्दण्ड दिया जाय । ब्राह्मण, वेदज्ञ एवं तपस्वी को सत्री (गुप्तचर) द्वारा परिगृहीत कर, उसका प्रतिपृच्छा बयान लिया जाय ।[99]

छोटे अपराधी बालक, बूढ़ा, बीमार, पागल, उन्मादी, भूखा-प्यासा,

थका, अति-भोजन किये अजीर्ण, रोगी और निर्बल आदि व्यक्तियों को दण्ड न दिया जाय ।[100]

मृत्युदण्ड :

वधदण्ड का अन्तिम रूप मृत्युदण्ड कहलाता है । मृत्युदण्ड उसी दशा में दिया जाता था जब दण्ड के अन्य प्रकार प्रभावशाली नहीं सिद्ध होते थे । जहाँ तक सम्भव होता था, अन्य प्रकार के दण्डों से ही अपराधी को दण्डित किया जाता था । परन्तु कुछ ऐसे अपराध थे जिनमें प्राणदण्ड देना आवश्यक हो जाता था । ऐसे अपराध या तो राज्य से सम्बन्धित होते थे या महापातकों से। इस विषय में नीतिशास्त्र एवं स्मृतियों में अन्तर है । नीतिशास्त्र राज्य सम्बन्धी अपराधों में और धर्मशास्त्र महापातकों के अपराध में मृत्युदण्ड का विधान करते हैं ।[101]

वृहस्पति का स्पष्ट मत है कि यदि एक को प्राणदण्ड देने से बहुतों का कल्याण होता हो तो अवश्य ही प्राणदण्ड दिया जाय ।[102]

भगवान् मनु का भी कहना है कि छलपूर्वक मिथ्या शासन करने वाले, प्रजाओं को दूषित करने वालों, स्त्री, बालक और ब्राह्मण के हिंसकों तथा शत्रु की सेवा करने वालों का राजा वध (मृत्यु) करा दे ।[103]

याज्ञवल्क्य के अनुसार किसी दूसरे का खेत, वन, गाँव, बाड़ा और खलिहान जलाने वाले, राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वालों को सरहरी में लपेटकर जलवा दिया जाय ।[104]

भगवान् मनु कहते हैं कि रात्रि में चोरी करने वाले चोरों के हाथों को कटवाकर शूलों पर चढ़ा दिया जाता था ।[105] राज्य के अन्न भण्डार, शस्त्रागार एवं देवालय तोड़ने वालों तथा हाथी और रथादि चुराने वालों का वध करने को कहते हैं ।[106]

आचार्य कौटिल्य भी कई ऐसे अपराधों का वर्णन करते हैं जिनमें अपराधी को शूली पर चढ़ाकर मृत्युदण्ड मिलता है । यथा - बलपूर्वक स्त्री-पुरुष का घात करने वाले, अभिसारक ﴾दौड़कर मारने वाला﴿, निग्राहक ﴾पकड़कर मारने वाला﴿ अवघोषक ﴾मारूँगा ऐसा कहकर मारने वाला﴿, अवस्कन्दक ﴾आक्रमण करने वाला﴿, उपवेधक ﴾बींधना-छिद्र करना﴿, मार्ग एवं गृह के चोरों, राजकीय हाथी, घोड़े एवं रथ के हिंसकों अथवा चोरों को आदि ।[107]

व्यभिचार के अपराध में भी मृत्युदण्ड का विधान था । याज्ञवल्क्य अपने से ऊँची जाति की स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर दोषी पुरुष के वध का विधान करते हैं ।[108]

भगवान् मनु कहते हैं कि यद्यपि स्त्रियाँ अवध्य कही गयी हैं, परन्तु कुछ अपराधों में उन्हें भी प्राणदण्ड दिया जाता था । व्यभिचार के अपराध में स्त्री को सबके सामने कुत्तों से नुचवा दिया जाता था ।[109] सुरक्षित द्विज-स्त्री के साथ सम्भोग करने पर शूद्र को प्राणदण्ड देने का विधान है ।[110]

इसके अतिरिक्त आचार्य कौटिल्य अपने पति, गुरु, बच्चे की हत्या करने वाली, आग लगाने वाली, विष देने वाली, सेंध लगाकर चोरी करने वाली स्त्री

को गायों के पैरों के नीचे कुचलवाकर मारने का विधान करते हैं ।[111]

प्रायः सभी प्राचीन विधि-प्रणेता इस बात पर एकमत हैं कि ब्राह्मण को वध का दण्ड नहीं देना चाहिए । इसके स्थान पर चिह्नांकन, देश-निष्कासन, शिरोमुण्डन आदि दण्डों का विधान किया गया है ।[112]

कतिपय गम्भीर अपराधों में ब्राह्मण को भी मृत्यु दण्ड देने का विधान प्राप्त होता है । कात्यायन के मत से भ्रूण हत्या, स्वर्ण की चोरी, ब्राह्मण स्त्री की किसी तीक्ष्ण हथियार से हत्या के अपराध में ब्राह्मण को भी वधदण्ड दिया जाना चाहिए ।[113] मृच्छकटिकम् में राजा पालक चारुदत्त के ब्राह्मण होते हुए भी उसे मृत्युदण्ड देता है ।[114]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि वधयोग्य मनुष्यों को मारने पर राजा को अधिक दक्षिणा वाले यज्ञों का फल प्राप्त होता है ।[115] उनके अनुसार मृत्युदण्ड के अनेक प्रकार थे, जो निम्न हैं :-

1. शूली पर चढ़ाना,
2. तलवार के आघात से मारना,
3. कुत्तों से नुचवाना,
4. पानी में डुबाना,
5. तीरों से विंधवाना, एवम्
6. हाथी अथवा पाड़ों के पैरों से कुचलवाना आदि ।

कभी कभी मृत्युदण्ड के पहले अङ्गच्छेद भी कर लिया जाता था । दण्ड विवेक के अनुसार प्रमापण अथवा प्राणदण्ड दो प्रकार का होता है :-

1. शुद्ध प्रमापण, एवम्
2. निर्मित प्रमापण ।

शुद्ध प्रमापण भी दो प्रकार का होता है :-

(क) अविचित्र (तलवार आदि से प्रहार), एवम्

(ख) विचित्र (शूली पर चढ़ाना) ।

मिश्र प्रमापण में अङ्गच्छेदादि के साथ ही अन्य दण्डों का भी आश्रय लिया जाता है ।[116]

आचार्य कौटिल्य भी मृत्युदण्ड के दो प्रकार शुद्ध दण्ड एवं चित्रदण्ड बताते हैं । चित्र दण्ड में कष्ट सहित मृत्यु दण्ड दिया जाता है, जबकि शुद्ध प्राणदण्ड में कष्टरहित दण्ड दिया जाता है । कोई व्यक्ति यदि लड़ाई-झगड़े में किसी व्यक्ति को जान से मार डाले तो उसको कष्टपूर्वक प्राणदण्ड दिया जाय । झगड़ा होने के बाद चोट खाया हुआ व्यक्ति यदि सात दिन बाद मरे तो मारने वाले को शुद्ध प्राण दण्ड दिया जाय ।[117]

कविकुलगुरू कालिदास शूली पर चढ़ाकर अपराधी के निष्प्राण शरीर को गिद्धों व कुत्तों को खाने के लिए अर्पित करने को कहते हैं ।[118] मृच्छकटिकम् में भी दो प्रकार से मृत्युदण्ड दिये जाने का ज्ञान होता है । एक तो सहसा मारना, दूसरे शूली पर चढ़ाना ।[119]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मृत्युदण्ड देते समय यद्यपि उद्देश्य अपराधी के प्राणों का अन्त करना था तथापि अपराधी की क्रूरता के आधार पर उसे क्रियान्वित करने की विधि भिन्न थी ।

मृत्युदण्ड का उद्देश्य एक ओर तो अपराधी को पुनः अपराध करने योग्य नहीं छोड़ना था एवं दूसरी ओर भावी अपराधियों के हृदय में इसके द्वारा भय उत्पन्न करना भी था ताकि वे इस प्रकार के अपराध न करें । इस प्रयोजन से भी मृत्युदण्ड किस प्रकार से दिया जाता है, इस पर बहुत ध्यान दिया जाता था । इसी से हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में मृत्युदण्ड प्रायः सार्वजनिक स्थानों में नगाड़ों की ध्वनि के मध्य दिया जाता था । अपराध की विधिवत् घोषणा की जाती थी । अपराधी को प्रायः करवीर पुष्प की माला पहनाकर घी तथा लाल चन्दन का लेपकर, तिल, तण्डुल व कुंकुम से अनुलिप्त करके वधस्थल पर ले जाया जाता था ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
   तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥
   - मनुस्मृति, 8/129.

2. वही, 8/130.

3. याज्ञवल्क्य., 1/367.

4. नारद., परिशिष्ट, 53-54.

5. कात्यायन., 483.

6. बृहस्पति., प्रकीर्णक, 6/27 एवं 27/8.

7. मनुस्मृति, 8/129.

8. बृहस्पति., प्रकीर्णक, 27/5.

9. वही, 27/7.

10. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 763.

11. मनुस्मृति, 8/124-125.

12. Crime and Punishment in Ancient India, p. 30.

13. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 30.

14. बृहस्पति., 9/19, 25/, 20/8 एवं 20/12.

15. शंखलिखित, दण्ड-विवेक में उद्धृत, पृष्ठ 22.

16. मनुस्मृति, 8/138.

17. याज्ञवल्क्य., 1/336.

18. आपस्तम्ब., 1-9-24, 1-4.

19. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 30.

20. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 2/19/2-8.

21. मनुस्मृति, 8/135-136.

22. वही, 8/336.

23. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 54.

24. मनुस्मृति, 9/242.

25. नारद., प्रकीर्णक - 10-11.

26. यम एवं हलायुध, दण्ड-विवेक में उद्धृत, पृष्ठ 61.

27. मनुस्मृति, 9/243-247.

28. नारद पारुष्य, 11-14, बृहस्पति., 22/15.

29. महाभारत, शान्तिपर्व, 85/20.

30. वही, 122/40.

31. कात्यायन0, दण्ड विवेक में उद्धृत, पृष्ठ 58.

32. वही, पृष्ठ 67.

33. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/9.

34. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 2/32/2.

35. वही, 2/24/2.

36. वही, 3/13/18.

37. मनुस्मृति, 9/229.

38. कात्यायन., 962-63.

39. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 59.

40. कात्यायन., 970.

41. मनुस्मृति, 9/230.

42. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 20-21.

43. मनुस्मृति, 8/124-125.

44. बृहस्पति., 27/9.

45. बृहस्पति., प्राकीर्णक, 10.

46. वही, 11.

47. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 46.
48. नारद., 14/9-10.
49. यम, स्मृतिचन्द्रिका-2, पृष्ठ 317.
50. याज्ञवल्क्य., 2/270.
51. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/27-29.
52. कात्यायन., 483.
53. बोधायन., 1-10-19/17.
54. महाभारत, शान्तिपर्व, 22, 21-33.
55. मृच्छकटिकम् नवाँ अङ्क
56. मनुस्मृति, 8/370 एवं 379.
57. वही, 9/235-237.
58. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/28.
59. नारद., एपेण्डिक्स, 53-55.
60. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/29.
61. मनुस्मृति, 9/240.
62. वही, 9/238-239.
63. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/29.
64. मनुस्मृति, 8/380.
65. याज्ञवल्क्य., 2/270.
66. मनुस्मृति, 9/225 एवं 8/219.
67. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/9/21, 23.

68. मनुस्मृति, 8/310.

69. वही, 8/375.

70. कात्यायन., दण्ड-विवेक में उद्धृत, पृष्ठ 66.

71. मनुस्मृति, 9/229.

72. रामायण, 5/26/10.

73. मनुस्मृति, 9/288.

74. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/9/21-23.

75. वही, 4/9/28.

76. वही, 2/5/5.

77. वही, 2/36/41.

78. वही, 2/36/44.

79. वही, 2/36/47.

80. वही, 2/36/44.

81. मालविकाग्निमित्रम्, पृष्ठ 71.

82. मृच्छकटिकम्, दशमोऽङ्कः।

83. हर्षचरितम्, चतुर्थ उच्छ्वास ।

84. रघुवंश, 16/19-20.

85. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 2/36/45.

86. वही, 2/36/46.

87. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 21.

88. मनुस्मृति, 8/125.

89. मनुस्मृति, 8/124.

90. वही, 8/279-280.

91. वही, 8/281-283.

92. वही, 8/334.

93. वही, 9/276.

94. गौतम., 12/2.

95. याज्ञवल्क्य., 2/115.

96. Macrindle, Ancient India as described by Megasshonese, Fragment xxv ii, p.17.

97. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/21.

98. वही, 4/8/22-23.

99. वही, 4/8/17-19.

100. वही, 4/8/14.

101. त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृष्ठ 243.

102. वृहस्पति., 27 प्राकीर्णक/26.

103. मनुस्मृति, 9/232.

104. याज्ञवल्क्य., 2/282.

105. मनुस्मृति, 9/276.

106. वही, 9/280.

107. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/11/19.

108. याज्ञवल्क्य., 2/286.

109. मनुस्मृति, 8/371.

110. वही, 8/374.

111. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/11/19.

112. मनुस्मृति, 8/124, वृहस्पति. प्राकीर्णक, 10, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 4/8/27, याज्ञवल्क्य., 6/270, कात्यायन., 483, महाभारत, शान्तिपर्व, 22, 31-33.

113. कात्यायन., 806.

114. 'मृच्छकटिकम् , नवम अङ्क ।

115. याज्ञवल्क्य., 1/359.

116. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 21.

117. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् . 4/11/1-2.

118. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , छठा अङ्क ।

119. मृच्छकटिकम् , दशम अङ्क ।

---------::0::---------
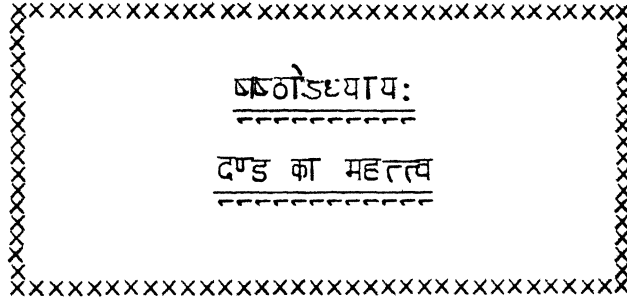
षष्ठोऽध्यायः

दण्ड का महत्त्व

संसार चक्रान्तर्गत जीव अपने कर्म-प्रारब्ध को भोगते हुए विभिन्न योनियों में जन्मते एवं मरते रहते हैं । प्रत्येक योनि के जीवों में आपस में एक दूसरे से किसी न किसी रूप में भय अवश्य होता है । उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी से (व्यक्ति अथवा जीव विशेष) भय अवश्य होता है । यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि उसे किससे भय होगा ।

महाभारत में कहा गया है कि भय यमदण्ड का हो, या राजदण्ड का, भय के कारण ही मनुष्य पाप नहीं करता है ।[1] बहुत से लोग दण्ड के भय से एक दूसरे के प्रति प्राणघातक नहीं बनते हैं । यदि दण्ड रक्षा न करे तो सभी लोग घोर अन्धकार में डूब जायँ । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी भी दण्ड के भय से अपने अपने मार्ग पर स्थिर रहते हैं ।[2] दण्ड से ही प्रजा की रक्षा होती है और दण्ड ही प्रजा पर शासन करता है । सम्पूर्ण विश्व सोता है तो दण्ड जागता है । अतएव विद्वान् उसे (दण्ड को) धर्म ही मानते हैं । दण्ड ही धर्म, अर्थ और काम की रक्षा करता है । अतएव वही त्रिवर्ग है ।[3]

अर्जुन के अनुसार मनुष्य भी दण्ड के ही भय से अपने कर्त्तव्य पालन में लगते हैं । यह भय राजदण्डमूलक हो या यमदण्डपरक, लेकिन दण्ड-भय से ही पाप न करने में प्रवृत्ति होती है । मानव-स्वभाव भयमूलक है । दण्ड स्वयं विष्णु नारायण और महापुरुष है । जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है, अंकुश गज को वश में रखता है, वैसे ही दण्ड दुष्टों को सन्मार्ग पर ले आता है ।[4] इसके द्वारा ही राजा पृथ्वी पर शासन करता है और प्रजा सुख का भोग करता है ।[5]

याज्ञवल्क्य के अनुसार दण्ड के भय से ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करता है एवं स्वधर्म से विचलित नहीं होने पाता है।[6] शुक्रनीति कहती है कि प्रजा इस दण्ड के भय से ही धर्म में निरत रह पाती है। दण्डभय से ही कोई दुष्ट किसी पर आक्रमण नहीं कर सकता है। क्रूर पुरुष इस दण्ड के कारण ही ढीले पड़ जाते हैं और दुष्ट भी अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।[7]

भगवान् मनु कहते हैं कि दण्ड के भय से ही देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प मनुष्य के आनन्द के कारण होते हैं।[8]

यदि पक्षी और हिंसक जानवर दण्ड के भय से डरते न होते तो वे पशुओं, मनुष्यों और यज्ञ के लिए रखे हुए हविष्यों को खा जाते।[9] शुक्रनीति का कथन है कि दण्डभय से चुगलखोर चुप हो जाते हैं और घातक आततायी भयभीत होकर चुप रहते हैं। जो राजा के विरुद्ध होते हैं, वे कर देने लगते हैं तथा अन्य भी त्रास मानने लगते हैं। अतएव धर्म की रक्षा के लिए राजा को दण्डधारी होना चाहिए।[10]

मनुस्मृति कहती है कि दण्ड का उचित प्रयोग न होने से सभी वर्ण दूषित हो जायेंगे एवं धर्म के सभी बन्धन टूट जाते हैं तथा सर्वत्र अराजकता फैल जायेगी।[11] यदि दण्ड मर्यादा का पालन न करावे तो लोग आश्रमों में रहकर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धर्म का पालन नहीं कर सकते और कोई विद्या भी नहीं पढ़ सकते थे।[12]

महाभारत में अन्यत्र भी कहा गया है कि यदि संसार में दण्ड न रहे तो यह सारी प्रजा नष्ट हो जाय और जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही प्रबल जीव दुर्बल जीवों को अपना ग्रास बना लेते। जैसे सूर्य

अन्धकार को दूर करता है अंकुश गज को वश में रखता है वैसे ही दण्ड दुष्टों को सन्मार्ग पर ले आता है ।[13]

राजा की दण्ड व्यवस्था से सुरक्षित चारों वर्ण, आश्रम सभी लोक अपने अपने धर्म-कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर शाश्वत रूपेण अपनी अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं ।

दण्ड के महत्त्वपूर्ण होने के कारण दण्डनीति का भी महत्त्व बढा । इस सन्दर्भ में आचार्य कौटिल्य का कथन है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्ता इन सभी विद्याओं के योग-क्षेम का प्रमुख साधन दण्ड ही है । दण्ड का समुचित प्रतिपादन करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है । वही अलब्ध वस्तुओं को सुलभ कराती है, प्राप्त की रक्षा करती है, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और वही सम्बर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश देती है । उसी पर संसार की समस्त लोकयात्रा निर्भर करती है । अतएव लोक को सन्मार्ग पर ले ले चलने की इच्छा रखने वाला राजा सदा ही दण्ड देने को उद्यत रहे ।[14]

जहाँ पापनाशक श्यामवर्ण एवं रक्त नेत्र युक्त दण्ड निर्भय होकर गतिशाल रहता है एवं राजा न्यायपूर्वक आरोपों को सुनता है वहीं प्रजा उन्नति करती है ।[15]

भगवान् मनु ने तो दण्ड के विषय में यहाँ तक कहा है कि राजा का कार्य बनाने के लिए ही ईश्वर ने सभी जीवों के रक्षक, ब्रह्मतेज से सम्पन्न धर्मरूप दण्ड को सर्वप्रथम बनाया । जिस दण्ड के भय से ही सभी चराचर जीव सुख प्राप्त

करते हैं एवं स्वधर्म से विचलित नहीं होते हैं। देश, काल, दण्डशक्ति एवं अपराधानुसार दण्डादि के शास्त्रीय ज्ञान का तत्वपूर्वक विचार करके एवं अपराधियों के लिए यथायोग्य दण्ड निश्चित करे। यथार्थ में वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है, वही नेता है, वही शासक है और वही धर्म के चारों आश्रमों का प्रतिभू कहा जाता है।[16] इसे स्पष्ट करते हुए कुल्लूक भट्ट ने अपनी टीका में कहा है कि दण्ड में ही राज करने की शक्ति है। इसी से वह राजा है। वह दण्ड पुरुष है, क्योंकि अन्य सभी लोग उस दण्ड के विधेय होने से स्त्री तुल्य हैं। वह दण्ड नेता है, क्योंकि उस दण्ड के द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं। दण्ड सब प्रजाओं का शासक और रक्षक है, वही सभी के सो जाने पर जागता रहता है, अतएव विद्वान् जन दण्ड को ही धर्म कहते हैं।[17]

उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि मानव समाज में शान्ति एवं समृद्धि की व्यवस्था बनाये रखने के लिए दण्ड की अत्यन्त आवश्यकता थी। दण्ड मनुष्य को कानून एवं व्यवस्था के अधीन रखता था। सम्पूर्ण समाज के हित के दृष्टि से व्यक्ति को दण्डित किया जाता था। दण्ड मनुष्य को स्वधर्म पालन करने के लिए विवश करता है। दण्ड का महत्व इसलिए भी था कि यह भावी अपराधियों के हृदय में भय उत्पन्न करता था। इस प्रकार दण्ड समाज में अवरोधक के रूप में कार्य करता था। दण्ड का साध्य सामाजिक सुरक्षा है, जिसे प्राप्त करने के लिए वह साधनमात्र है।

दण्ड का महत्त्व इतना बढ़ा कि उसे (दण्ड को) देवता समझा जाने लगा।

यहाँ नहीं दण्ड का मानवीकरण कर दिया गया एवं उसके शारीरिक रूप का वर्णन किया गया । महाभारत में कहा गया है कि दण्ड का ठीक-ठीक उपयोग होने पर राजा के धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती रहती है । इसलिए दण्ड महान् देवता है, यह अग्नि-सदृश तेजस्वी है ।[18] दण्ड सर्वत्र व्यापक होने के कारण भगवान् विष्णु है और मनुष्यों का आश्रय होने के कारण नारायण कहलाता है । वह प्रभावशाली होने से प्रभु, और सदा महत् रूप धारण करने के कारण महान् पुरुष कहलाता है ।[19] इसी प्रकार दण्डनीति भी ब्रह्माजी की कन्या कही गयी है ।[20]

महाभारत में उपमाओं के साथ दण्ड के शारीरिक स्वरूप का वर्णन किया गया है कि दण्ड के शरीर की कान्ति नील-कमल-दल के सदृश श्याम है, इसके चार दाँतें एवं चार भुजाएँ हैं, आठ पैर और अनेक नेत्र हैं । इसके कान खूँटे के समान हैं और रोएँ ऊपर की ओर उठे हुए हैं ।[21] इसके सिर पर जटाएँ हैं, मुख में दो जिह्वाएँ हैं तथा मुख का रंग ताँबे के समान है । शरीर को ढकने के लिए उसने व्याघ्रचर्म धारण कर रखा है । इस तरह यह दुर्धर्ष दण्ड सदा भयंकर रूप धारण किये रहता है ।[22]

विष्णु भी दण्ड का स्वरूप इसी प्रकार बताते हैं ।[23] महाभारत में अर्जुन दण्ड के इस प्रकार के स्वरूप का कारण बताते हुए कहते हैं कि दण्डनीय पर ऐसी जोर की मार पड़ती है कि उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, इसीलिए दण्ड को काला कहा गया है । दण्ड देने वाले की आँखें लाल रहती हैं इसलिए उसे लोहिताक्ष कहा गया है ।[24]

मनुस्मृतिकार भगवान् मनु का कथन है कि अपराधियों को दण्ड न देने से काक (कौआ) भी यज्ञ का पुरोडाश खा जाय एवं श्वान (कुत्ता) हवि का भक्षण कर जायेगा। किसी का कुछ अधिकार हीन रह जाय, और नीच व्यक्ति महान् बन जाय। सम्पूर्ण विश्व दण्ड के अधीन है, शुद्ध सज्जन तो दुर्लभ ही हैं। दण्डभय से ही विश्व के सभी जीव अपना-अपना आवश्यक भोग भोगते हैं।[25]

राजा एवं दण्ड :

भगवान् मनु के वर्णनों से स्पष्ट होता है कि राजा का धर्म और दण्ड से विशेष सम्बन्ध था। धर्म के रक्षार्थ राजा था तथा धर्म की स्थापना राजा दण्ड के द्वारा करता था। यह दण्ड भी ब्रह्मतेजोमय ही था।

महाभारत में राजा शब्द की व्युत्पत्ति 'रञ्ज्' धातु से बतायी गई है, जिसका अर्थ है कि वही राजा है, जो प्रजा को प्रसन्न व सुखी रखता है।[26] प्रजा सुखी उसी स्थिति में रह सकती है, जब उसको प्रत्येक प्रकार की सुरक्षा प्राप्त करायी जाय एवं राजा उसका परिपालन उचित ढंग से करे।

इस प्रकार से यह सुस्पष्ट होता है कि राजा का प्रमुख कार्य सभी प्राणियों की समुचित देखरेख एवं सुव्यवस्थित संरक्षण करना था।

धर्मसूत्रों में राजा का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा एवं दोषी को दण्ड देना बताया गया है।[27] गौतम का कहना है कि राजा का मुख्य कर्त्तव्य सभी प्राणियों की रक्षा करना, न्यायोचित दण्ड देना, शास्त्रानुसार वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना तथा पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग पर चलाना है।[28]

भगवान् मनु का भी कथन है कि प्रजापालन ही क्षत्रियों का सर्वश्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि प्रजापालन द्वारा शास्त्रोक्त फल को भोगने वाला राजा धर्म से युक्त होता है ।[29]

याज्ञवल्क्य भी क्षत्रिय का प्रधान-कार्य प्रजा-पालन ही बताते हैं ।[30] कात्यायन भी प्रजा-रक्षण, कष्ट को दूर करने एवं ब्राह्मणों का आदर करने के लिए राजा की उत्पत्ति बताते हैं ।[31]

बृहस्पति का कथन है कि प्रजा-पालन तीन प्रकार का होता है :-

1. 'पर चक्रात्' अर्थात् शत्रु के आक्रमण से,
2. 'चौर भयात्' अर्थात् दस्यु वृत्ति वाले लोगों के भय से, एवम्
3. 'बलिनो न्याय वर्तिन', अर्थात् अन्यायपरक (अन्यायी अथवा आततायी) लोगों से प्रजा को बचाना ।[32]

इस प्रकार राजा एक ओर तो बाहरी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करता था एवं दूसरी ओर आन्तरिक आपत्तियों और आतंक से प्रजा का रक्षण करता हुआ शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखता था । आन्तरिक सुरक्षा की दृष्टि से वह अपराधियों को दण्ड देता था ।

भगवान् मनु का कथन है कि राजा कण्टकों को दूर करने में हमेशा भली-भाँति लगा रहे ।[33]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि राजा अपना सबसे बड़ा धर्म जो कि प्रजा को

अभयदान देता है, पूर्ण करता था ।[34]

भगवान् मनु ने तो राजा की उत्पत्ति की आवश्यकता के सम्बन्ध में लिखा है कि इस संसार के विनाशयुक्त होने पर बलवानों के डर से प्रजाओं के इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान् ने राजा की सृष्टि की ।[35]

महाभारत में वसुमान् और वृहस्पति के संवाद में राजा के न होने पर समाज की क्या दशा होगी, इसका वर्णन है :-

वृहस्पति कहते हैं कि यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो सबल मनुष्य निर्बलों की बहू-बेटियों को हर ले जायँ और अपने घर-द्वार की रक्षा के लिए प्रयत्न करने वालों को मार डालें, इस जगत् में स्त्री, पुत्र, धन अथवा निवास-स्थान कोई ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता जिसके लिए कोई कह सके कि यह मेरा है । सब और सबकी सम्पत्ति का लोप हो जाय, पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और अनेक प्रकार के रत्न लूट ले जायँ ।[36] इसी प्रकार रामायण में भी राजा के अभाव में अराजक स्थिति का विशेष रूप से वर्णन किया गया है जिससे शासन की आवश्यकता व राजा का महत्त्व स्पष्ट परि-लक्षित होता है ।[37]

वृहस्पति का भी विचार था कि शासक के अभाव में सारे काम बन्द हो गये एवं लोगों ने अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करना बन्द कर दिया ।[38]

इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि जब दण्ड का सम्यक् प्रयोग नहीं होता है तो मात्स्य-न्याय प्रचलित हो जाता है, क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान दुर्बल को अपना ग्रास बना लेते हैं। समुचित दण्ड से ही राजा (दण्ड धर) प्रभावशाली होता है। दण्ड शील राजा द्वारा पालित, चारों वर्णों एवं आश्रमों से युक्त लोग अपने धर्म-कर्म में रहकर, अपने मार्ग पर प्रवृत्त होता है।[39]

अतएव ऐसी स्थिति को समाप्तप्राय करने के लिए प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया।[40] इस प्रकार समाज में अराजकता दूर करने के लिए ही राजा की सृष्टि की गयी।

महाभारत में हमें मिलता है कि राजा से रक्षित हुए मनुष्य सभी ओर से निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छानुसार घर के दरवाजे को खोलकर निश्चिन्त शयन करते हैं।[41] यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो सम्पूर्ण आभूषणों से विभूषित स्त्रियाँ किसी पुरुष को साथ लिए बिना ही निर्भय होकर मार्ग से आती-जाती हैं।[42]

राजा द्वारा रक्षित सभी लोग धर्म का पालन करते थे, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।[43] जब राजा रक्षा करता है तब तीनों वर्णों के लोग अनेक प्रकार के बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययन में लगे रहते हैं।[44]

यह संसार वार्त्तामूलक है तथा इसे त्रयी की सहायता से धारण किया जाता है। जब राजा रक्षक होता है तब सभी कुछ ठीक ढंग से चलता है।[45]

इस प्रकार जब हम यह देखते हैं कि हिन्दू-विधि-शास्त्री अराजक स्थिति की कल्पनामात्र से विचलित हो जाते थे। उस स्थिति में प्रजा का, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन विपत्ति में पड़ जाता था। राजा के न होने के कारण हर जगह मात्स्य-न्याय प्रचलित हो गया। राजा ने अनुरक्षित प्रजा का रक्षण किया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे सुरक्षा प्रदान की। ऐसा करके राजा अपने प्रमुख कर्त्तव्य को जो कि प्रजा का परिपालन है, करने में सफल हुए।

दण्डधर के रूप में राजा :

राजा अपने इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए ही दण्डधर कहलाया।[46] उसकी कार्यसिद्धि के लिए ही प्रभु ने दण्ड की रचना की।[47]

शुक्र का भी कथन है कि धर्म की रक्षा हेतु राजा को नित्य दण्डधर होना चाहिए।[48] इस प्रकार दण्ड धारण करके राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन, जिनमें से मुख्य प्रजा-पालन है, सरलता के साथ करने लगा। उसके हाथ में दण्ड के रूप में ऐसा शस्त्र आ गया जिसके द्वारा वह मनुष्य को अपनी आज्ञा मानने के लिए विवश कर सकता था। दण्ड देने की शक्ति राजा में इसलिए निहित हो गयी, क्योंकि वह सभी का स्वामी था।[49]

भेद रहित, निष्पक्ष न्याय की कल्पना तभी साकार हो सकती है, जब कि दण्ड देने की शक्ति किसी ऐसी संस्था में निहित हो जो समाज से ऊपर हो, जिसका किसी वर्ग विशेष से सम्बन्ध न हो, वह अपराधी या जिसके प्रति अपराध

हुआ है, उनमें से कोई न हो, एवं उसके पास शक्ति हो । राजा में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं, इसी से दण्ड देने की शक्ति राजा में ही निहित मानी गई।

महाभारत का कथन है कि दण्ड धारण करना राजा का प्रधान कर्म है, क्योंकि क्षत्रिय में बल की नित्य स्थिति है और बल में ही दण्ड प्रतिष्ठित है ।[50]

आचार्य कौटिल्य का विचार है कि राजा प्राणियों को स्वधर्म च्युत न होने दे । प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त करने वाला राजा इस लोक में तथा मरणोपरान्त परलोक में सुखी होता है ।[51]

वशिष्ठ का कहना है कि देश, जाति, कुल के धर्मों को ध्यान में रखकर राजा को चाहिए कि वह चारों वर्णों के लोगों को अपने-अपने वर्ण में स्थापित करे । जो लोग ऐसा न करें उन्हें दण्डित करें ।[52]

बृहस्पति भी न केवल पारम्परिक विवादों को निबटाने के लिए ही राजा की आवश्यकता मानते थे, वरन् वर्णाश्रम धर्म के पालन कराने में उसके महत्त्व को स्वीकार करते थे । उसी का भय लोगों को सन्मार्ग पर रखता था एवं धर्म से विचलित नहीं होने देता था ।[53]

इस प्रकार राजा अपनी प्रजा की उसी प्रकार रक्षा करता था जैसे कि एक पिता अपने बच्चों की करता है ।[54]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि राजा का प्रजा के सुख में सुख उसके हित में हित निहित है । अपना प्रिय राजा का हितकारी नहीं है, प्रजा का

हित ही उसका हित होता है।[55]

इस प्रकार ऐसे राजा द्वारा, जिसे दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है उसके द्वारा रक्षित प्रजा न केवल अपने कर्त्तव्यों का पालन करती थी, वरन् दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण भी नहीं करती थी। दण्ड का महत्त्व न केवल राजनीतिक एवं वैधानिक दृष्टि से ही था, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी था। दण्ड के द्वारा राजा मनुष्यों को वर्णाश्रम धर्म पालन करने के लिए भी विवश करता था। अपने कर्त्तव्यों के फलस्वरूप राजा प्रजा से वेतन के रूप में कर लेता था। धर्मसूत्रों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि राजा को प्रजा में शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिए कर्त्तव्य के प्रतिरूप में ब्राह्मण को छोड़कर अन्य लोगों से उनकी आय का षड्भाग प्राप्त होता था।

महाभारत में भी कहा गया है कि बुद्धिमान राजा प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिए उनकी आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करे।[56]

आचार्य कौटिल्य भी लोगों द्वारा खेती की उपज का छठा भाग एवं अन्य व्यापार का दशवाँ भाग तथा थोड़ा सा सुवर्ण राजा को वेतन के रूप में देने का वर्णन करते हैं, जिससे राजा प्रजा के योगक्षेम की सम्पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।[57] भगवान् मनु का भी कथन है कि प्रजाओं की रक्षा करने वाले राजा को सबके धर्म का छठा भाग प्राप्त होता है एवं प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को अधर्म का भी छठा भाग प्राप्त होता है।[58]

याज्ञवल्क्य के विचार भी मनु के सदृश ही हैं। वे कहते हैं कि न्यायपूर्वक

प्रजा का पालन होने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठा भाग प्राप्त करता है। अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से उत्पन्न पुण्यफल से प्रजापालन का फल अधिक होता है।[59]

वृहस्पति भी अपने कर्त्तव्यों के पालन करने परिणामत: राजा को छह्-भाग का ही नहीं, अपितु प्रजा के पुण्यों के भी छठें भाग का अधिकारी बताते हैं।[60] रघुवंशम् में भी राजा द्वारा अपने उस रक्षा के बदले वेतन लेने का उल्लेख मिलता है.।[61]

नारद भी राजा द्वारा अपने कर्त्तव्यों के पालन करने के फलस्वरूप उपज का छठा भाग वेतन के रूप में बलि लेने का वर्णन करते हैं।[62]

भगवान् मनु का कथन है कि जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता है और प्रजा से बलि, कर, शुल्क तथा प्रतिभाग लेता है वह राजा मृत्यु के उपरान्त तत्काल नरकगामी होता है।[63]

राजा केवल उन्हीं लोगों की रक्षा करता था, जो उसे कर देने लगते थे ऐसा नहीं था, प्रत्युत् राजा ऐसे व्यक्तियों की भी रक्षा करता था जो करमुक्त थे अथवा कर नहीं दे सकते थे।

प्रत्येक व्यक्ति केवल राजा होने के कारण ही दण्ड को धारण करे, ऐसा सम्भव नहीं था। हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने कतिपय गुणों का वर्णन किया है, जिन्हें धारण करने वाला ही दण्डधर हो जाता था।

भगवान् मनु का कथन है कि दण्ड जो महान् तेजवाला एवं दुर्धर है, अज्ञानी उसे कठिनाई से धारण कर सकता है धर्मभ्रष्ट राजा को दण्ड बान्धवादि के सहित नष्ट कर डालता है।[64] इसी से असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्रज्ञान-विहीन और विषयासक्त राजा आदि के द्वारा न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग नहीं किया जा सकता है।[65] जो राजा पवित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्रोक्त आचरण करने वाला, बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ सहायकों से सम्पन्न है वही दण्ड का प्रयोग कर सकता है।[66] यदि अपवित्र, शास्त्रज्ञानशून्य या मूर्ख राजा दण्ड धारण कर ले तो वह दण्ड दुर्ग, राज्य, चराचर के सहित पृथ्वी तथा अन्तरिक्षगामी मुनियों एवं देवताओं को भी पीड़ित करता है।[67]

उचित (सम्यक्) दण्ड का महत्त्व :

राजा द्वारा सम्यक् दण्ड प्रयोग पर बहुत अधिक बल दिया गया है। भगवान् मनु का कथन है कि शास्त्रानुसार यथावत् विचारपूर्वक दिया गया दण्ड सभी प्रजाओं को अनुरक्त करता है तथा अविचारपूर्वक दिया गया दण्ड सब प्रकार से नाश का कारण होता है।[68] शास्त्रानुसार दण्ड देना राजा के स्वर्ग, यश और विजय का कारण होता है।[69]

गौतम भी न्यायपूर्वक अर्थात् शास्त्रानुसार दण्ड देना राजा का कार्य कहते हैं।[70] भगवान् मनु पुनः कहते हैं कि यदि राजा दण्डनीय को दण्ड न दे तो सर्वत्र मात्स्य न्याय की स्थिति हो जायेगी। दण्ड न देने से काक पुरोडाश एवं श्वान हवि का भक्षण कर जाय।[71]

वाल्मीकि रामायण में एक स्थल पर राम बालि से कहते हैं कि जो राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता, वह स्वयं उसके पाप के फल को भोगता है।[72]

अतएव यह आवश्यक था कि राजा दण्ड देने के पूर्व कतिपय बातों पर भलीभाँति विचार करके शास्त्रानुसार दण्ड दे। दण्ड देने के पहले अपराधी की आयु, जाति, ज्ञान, स्थिति, शक्ति, धन एवं अपराध का स्वरूप और क्या अपराध की पुनरावृत्ति हुई है, अपराध का समय एवं स्थान तथा अन्य बातों पर भलीभाँति विचार करके राजा शास्त्रानुसार दण्ड देता था।

इस प्रकार जो राजा धर्मानुसार दण्ड धारण करता है, वह प्रजाओं का पालन करके समग्र पृथ्वी को यथावत् रूप से अपने अधिकार में कर लेता है तथा देह-त्याग करने के पश्चात् स्वर्गगामी होता है।[73]

भगवान् मनु का कथन है कि अदण्डनीयों को दण्ड देना एवं दण्डनीयों को दण्ड न देने वाला राजा अपयश और नरक को प्राप्त करने वाला होता है।[74]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा राजा जो दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देता है, वह मरने के बाद नरक-गामी होता है।[75]

महाभारत में भी इसी प्रकार कहा गया है कि यदि कोई मूर्ख व्यक्ति किसी निर्दोष व्यक्ति को अपनी इच्छा से दण्डित करता है तो उसे इस संसार में अपयश मिलेगा और मृत्योपरान्त नरकगामी होगा।[76]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि यदि राजा अदण्डनीय को दण्ड देता था तो प्रजा उससे उसका तीस गुना ले लेती थी ।[77]

बृहस्पति के अनुसार दण्ड देने योग्य व्यक्ति को दण्ड न देने से, नहीं दण्ड देने योग्य को दण्ड देने से राजा अपयश का भागी होता है और वह नरकगामी होता है ।[78]

पुनः आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि कठोर दण्ड देने वाला राजा प्राणियों को उद्वेलित करता है । मृदु-दण्ड देने वाला राजा अपमानित होता है । अतएव राजा को यथार्थ दण्ड देने वाला होना चाहिए । सम्यक् ज्ञानपूर्वक भलीभाँति विचार कर प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ एवं काम से योजित करता है । अज्ञानतावश दुष्प्रयुक्त दण्ड वानप्रस्थियों एवं परिव्राजकों को भी कुपित कर देता है, तो गृहस्थों के विषय में कहना ही क्या ?[79]

नारद का भी कथन है कि जब राजा न्यायासन पर बैठकर सब व्यक्तियों के प्रति समान भाव रखकर दण्ड देता है तो वह वैवस्वत मनु होता है ।[80]

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि विद्या-विनीत प्रजाओं के विनय हेतु तत्पर तथा समस्त प्राणियों के हित में निरत (संलग्न) राजा अखण्ड पृथ्वी का भोग करता है ।[81]

भगवान् मनु का भी कथन है कि जिस तरह यम, प्रिय तथा द्वेष रखने वाले में मृत्यु के समय कोई अन्तर नहीं रखता उसी तरह राजा को भी पक्षपात-रहित होकर न्याय की व्यवस्था करनी चाहिए ।[82]

कामन्दक का कथन है कि दण्ड का नाम ही दण्ड होता है और यह दण्ड राजा में स्थित होता है ।[83]

उपर्युक्त विवेचनों एवं व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि धर्म की स्थापना के लिए जहाँ राजा को दण्ड देने की शक्ति प्रदान की गई थी वहीं दण्ड को भी किसी ऐसे व्यक्ति की उचित आवश्यकता थी जो उसे धारण करके प्रभावकारी बनाए । इस दशा में राजा और दण्ड एक दूसरे के पूरक हो गये ।

दण्ड का परिमाण :

प्राचीन भारतीय विधि-वेत्ताओं द्वारा कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर दण्ड देने का विधान किया गया है । दण्ड देने के पहले न्यायाधीश स्वतन्त्र मस्तिष्क से भलीभाँति कतिपय बातों पर विचार-विनिमय के पश्चात् अपराधी को दण्ड देता था । यद्यपि प्रत्येक अपराध के लिए निश्चित दण्डों का निर्देश किया गया था, किन्तु न्यायाधीश दण्ड का परिमाण और स्वरूप निर्धारित करते हुए कतिपय बातों यथा अपराधी की जाति, आयु एवं स्थिति, सम्पत्ति, शारीरिक क्षमता, मन: स्थिति एवं अपराध का उद्देश्य, स्वरूप एवं समय पर विधिपूर्वक, भली भाँति विचार करता था जिसके फलस्वरूप उसे अपने विवेक के प्रयोग का पूर्ण अधिकार एवं अवसर प्राप्त था । इन सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् वह निर्धारित दण्ड अथवा निर्धारित दण्ड से कुछ कम या अधिक दण्ड देता था ।

गौतम का कथन है कि दण्ड देते समय अपराधी की स्थिति, उसकी शक्ति अपराध का स्वरूप और क्या अपराध की पुनरावृत्ति हुई है, इन बातों पर भली-

भाँति विचार कर लेना चाहिए ।[84]

वशिष्ठ के अनुसार अपराध का समय व स्थान, अपराधी की आयु, कर्त्तव्य एवं ज्ञान तथा दण्ड-स्थान पर भलीभाँति विचार करके न्यायाधीश को अपराधी को दण्ड देना चाहिए ।[85]

भगवान् मनु कहते हैं कि राजा देश, काल, दण्ड-शक्ति और विद्या का ठीक-ठीक विचार कर अपराधी व्यक्तियों में शास्त्रानुसार उस दण्ड को प्रयुक्त करे अर्थात् अपराधियों को उचित दण्ड दे ।[86]

याज्ञवल्क्य भी अपराध, देश, समय, शक्ति, आयु, कार्य और धन का पता लगा करके ही दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देने का निर्देश देते हैं ।[87]

भगवान् मनु बार-बार किये गये अपराध का उद्देश्य, देश, काल, अपराधी की शारीरिक तथा आर्थिक शक्ति और अपराध के गौरव-लाघव का वास्तविक विचार करके अपराधी को दण्डित करने को कहते हैं । मनु के द्वारा यहाँ अनुबन्ध शब्द का प्रयोग हुआ है ।[88]

मेधातिथि के अनुसार अनुबन्ध का अर्थ कार्य की पुनरावृत्ति अथवा कार्य के कारण (उद्देश्य) से है ।[89]

वृहस्पति के कथनानुसार यदि विवाद की परिस्थितियों पर ध्यान दिये बिना किसी वाद में निर्णय दिया जायेगा तो न्याय का अवहेलना होगा ।[90] विष्णु के अनुसार अपराधी की आयु एवं स्थिति तथा धन पर भलीभाँति विचार

करके तथा ब्राह्मणों की राय से दण्ड देना चाहिए ।[91] दण्ड सदैव अपराध के स्वरूप के अनुसार होना चाहिए ।[92]

महाभारत में भी दण्डनीय व्यक्ति की आयु, शक्ति और काल को ध्यान में रखते हुए राजा को यथोचित दण्ड की आज्ञा प्रदान करने को कहा गया है ।[93]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार कुछ ऐसी बातें हैं, जिन पर भलीभाँति विचार हो जाने पर ही दण्ड देना चाहिए । राजा और प्रजा को साथ लेकर प्रदेष्टा को चाहिए कि वह दण्ड देते समय अपराध को, अपराध के कारणों को, आपराधिक स्थिति, वर्तमान तथा भावी परिणामों को और देशकाल की स्थिति को भलीभाँति सोच-समझ ले । तदन्तर न्यायानुसार प्रथम, मध्यम और उत्तम दण्डों को सुनाये ।[94]

नारद भी अपराध के स्वरूप, स्थान और समय तथा अपराधी की योग्यता और उद्देश्य पर विधिवत् विचार करके अपराधी को दण्ड देने को कहते हैं ।[95]

राजतरंगिणी में कहा है कि जिस विषय पर सन्देह की स्थिति हो उसके निर्णय में शासन को क्षमानीति से काम लेना चाहिए ।[96]

शंख का कथन है कि पाँच वर्ष से कम अवस्था का बच्चा किसी क्रिया द्वारा अपराध अथवा पाप नहीं करता है । इसी से उसे न ही दण्ड मिलता है और न ही प्रायश्चित्त करना पड़ता है ।[97] नारद के अनुसार बच्चा शिशु कहला

है और आठ वर्ष तक गर्भस्थ जैसा माना जाता है तथा सोलह वर्षों तक बाल अथवा पौगण्ड कहलाता है ।[98]

इसी प्रकार अंगिरा का कथन है कि अस्सी वर्षीय वृद्ध तथा सोलह वर्ष से कम आयु वाले बालक को आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता है ।[99]

आचार्य कौटिल्य का कहना है कि स्त्री बारह वर्षों में और पुरुष सोलह वर्षों में वयस्क (व्यवहार-योग्य) हो जाते हैं । वे लेन देन कर सकते हैं । यदि इसके पश्चात् नियम का उल्लंघन करते हैं तो स्त्री पर बारह पण और पुरुष पर इसका दूना अर्थात् चौबीस पण दण्ड लगाया जाय ।[100]

कात्यायन का कथन है कि कतिपय अपराधों में स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा आधा दण्ड देना पड़ता था ।[101]

दण्ड विवेक में अनेक विद्वानों को उद्धृत करते हुए वर्द्धमान ने भी कई ऐसी बातों का उल्लेख किया है जिन पर विचार करके दण्ड देना चाहिए । इसके अनु-सार जाति, द्रव्य, परिमाण, विनियोग, परिग्रह, वय, शक्ति, गुण, देश-काल, दोष पर विचार करके दण्ड देना चाहिए ।[102]

हिन्दू-विधि-शास्त्रियों ने दण्ड देते समय अपराध और अपराधी पर विचार करने के साथ ही साथ उस पर भी विचार करने के लिए कहा है जिसके प्रति अपराध हुआ है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत में अपराधी को दण्ड बहुत ही सोच समझकर, गहन-विचार-विमर्श के उपरान्त दिया जाता था ।

वर्द्धमान के निम्न उल्लेख से स्पष्ट है कि दण्ड का परिमाण निर्धारित करते समय 11 (ग्यारह) तत्त्वों पर विचार किया जाता था :-

1. अपराधी की जाति,
2. वस्तु का मूल्य,
3. क्षति का परिमाण,
4. क्षतिग्रस्त वस्तु की उपयोगिता,
5. व्यक्ति जिसके प्रति अपराध किया गया है,
6. अपराधी की आयु,
7. जुर्माना देने या दण्ड सहने की शक्ति,
8. अपराधी के गुण,
9. अपराध का समय,
10. अपराध का स्थान,
11. अपराध का स्वरूप - यह प्रथम बार हुआ है या दुबारा हुआ है ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि एक ही अपराध के लिए प्रत्येक व्यक्ति को एक समान दण्ड नहीं मिलता था । दण्ड देते समय उसके अपराध एवं उसके व्यक्तित्व पर विचार किया जाता था । आधुनिक विधि-शास्त्रियों ने भी दण्ड का उचित परिमाण निर्धारित करने के लिए कुछ बातों पर विचार करना आवश्यक माना है ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/5.

2. वही, 15/12.

3. वही, 15/2,5,12 एवं 15/2-3.

4. वही, 67/6-11.

5. वही, 56/3-7.

6. याज्ञवल्क्य., 1/354.

7. शुक्रनीति, 4/43-44.

8. देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगा: ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिता:॥
- मनुस्मृति, 7/23.

9. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/36.

10. शुक्रनीति, 4/45-46.

11. मनुस्मृति, 7/24.

12. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/40

13. वही, 15/30.

14. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 1/4/3-5.

15. मनुस्मृति, 7/25.

16. वही, 7/14-17.

17. दण्ड: शास्ति प्रजा सर्वा: दण्डएवाभिरक्षति ।
दण्ड: सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा: ॥ मनुस्मृति, 7/18.

18. महाभारत, शान्तिपर्व, 121/14.
19. वही, 211/23.
20. वही, 221/24.
21. वही, 121/15.
22. वही, 121/16.
23. विष्णु, 3/95.
24. महाभारत, शान्तिपर्व, 15/11.
25. मनुस्मृति, 7/21-22.
26. महाभारत, शान्तिपर्व, 59/125.
27. गौतम., 10/7-8, वशिष्ठ., 19/1.
28. वही, 10/7-8, 11/9-10.
29. मनुस्मृति, 7/144.
30. याज्ञवल्क्य., 1/119.
31. कात्यायन., 15.
32. वृहस्पति., व्य. का., 1/39.
33. मनुस्मृति, 9/252.
34. याज्ञवल्क्य., 1/323.
35. मनुस्मृति, 7/3.
36. महाभारत, शान्तिपर्व, 68/14-16.
37. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 43वाँ सर्ग.
38. वृहस्पति., व्य. का., 1/6.

39. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् , 1/4/13-16.

40. वही, 1/13/5.

41. महाभारत, शान्तिपर्व, 68/30.

42. वही, 68/32.

43. वही, 68/33.

44. वही, 68/34.

45. वही, 68/35.

46. वही, 67/16, कामन्दक, 1/1, गौतम., 11/28, नारद., 1/1-2.

47. मनुस्मृति, 7/14.

48. शुक्रनीति, 4/1/49.

49. वही, 4/1/44.

50. महाभारत, शान्तिपर्व, .23/13.

51. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् , 1/3/16.

52. वशिष्ठ., 19/7, गौतम., 11/20.

53. वृहस्पति., व्य. का. 1/8, गौतम., 11/9.

54. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् , 2/1/26.

55. प्रजासुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः, प्रजानां तु प्रियं हितम्॥
- वही, 1/19/34.

56. महाभारत, शान्तिपर्व, 69/25.

57. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 1/13/6-7.

58. मनुस्मृति, 8/304.

59. याज्ञवल्क्य., 1/35.

60. वृहस्पति., व्य. का. 1/41-42.

61. रघुवंश, 17/66.

62. नारद., 18/48.

63. मनुस्मृति, 8/307.

64. वही, 7/28.

65. वही, 7/30.

66. वही, 7/31.

67. वही, 7/29.

68. वही, 7/19.

70. गौतम., 11/19.

71. मनुस्मृति, 7/20-21.

72. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, 18/32.

73. वही, अयोध्याकाण्ड, 100/76.

74. मनुस्मृति, 8/128.

75. याज्ञवल्क्य., 1/356.

76. महाभारत, शान्तिपर्व, 87/24.

77. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 4/13/42.

78. वृहस्पति. व्य. का., 1/7.

79. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 1/4/8-12.

80. नारद., 1/34.

81. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 1/5/19.

82. मनुस्मृति, 9/307.

83. कामन्दक, 5/2.

84. गौतम., 12/51.

85. वशिष्ठ., 19/9.

86. मनुस्मृति, 7/16.

87. याज्ञवल्क्य., 1/368.

88. मनुस्मृति, 8/126.

89. वही, 8/126 पर मेधातिथि की टीका ।

90. वृहस्पति., 2/12.

91. विष्णु., 5/194.

92. वही, 3/91.

93. महाभारत, शान्तिपर्व, 268/35.

94. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 4/10/17-18.

95. नारद., परिशिष्ट, 238.

96. राजतरंगिणी, 4/158.

97. शंख, याज्ञवल्क्य. 3/243 पर मिताक्षरा में उद्धृत ।

98. नारद., 4/85.

99. अंगिरा, याज्ञवल्क्य., 3/245 पर मिताक्षरा में उद्धृत ।

100. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, 3/3/1-2.

101. कात्यायन., 487.

102. दण्ड-विवेक, पृष्ठ 36.

---------::0::---------

सप्तमोऽध्याय:

उपसंहार

विधि सम्मत व्यवस्था का उल्लंघन ही अपराध है । यही कारण है कि जिस समाज में कोई मर्यादित व्यवस्था एवं विधान नहीं है उस समाज में अपराध नहीं होते । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि विधि-विधान के अभाव में अपराध को निश्चित करने वाली शक्ति का सर्वथा अभाव ही रहता है । तब यह कहना कठिन हो जाता है कि अपराध किसे कहते हैं ? परिणामतः विधि-संहिता में भी कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है । नियम, कानून को साधारणतया कुछ प्रसिद्ध रूढ़िवादी शक्तियाँ शाश्वत मानने का प्रयास इस हेतु करती हैं कि जिससे सामाजिक 'यथास्थिति' पूर्ववत् सुरक्षित रह सके । समाज में परिवर्तन होने के साथ ही साथ उसके स्वरूप में भी आवश्यक परिवर्तन हो जाता है ।

समाज या शासक द्वारा अपराधी को प्रदत्त प्रायश्चित्त ही दण्ड कहलाता है । दण्ड कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर, मानव समाज के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं । अपराधी जैसा गुरु या लघु अपराध करता है उसी अपराधानुरूप ही हमारे प्राचीन विधि-वेत्ताओं एवं ऋषियों-मुनियों ने उसका दण्ड-निर्धारित किया है । दण्ड देना हमारे मानव समाज में बहुत प्राचीन सभ्यता सेही चला आ रहा है । दण्डभय से ही सारे प्राणी चाहे वह मानवेतर ही क्यों न हो वह अपने-अपने सन्मार्ग पर ही चलता है । फलतः दण्ड की आवश्यकता की अनुभूति, इस चराचर जगत् में मनुष्यों द्वारा की गयी । अपराध एवं दण्ड-संहिता का क्रमिक विकास हुआ और उसे समाज ने पूर्णरूपेण स्वीकार किया । परिणाम यह हुआ कि पाप-पुण्य आदि युग-सापेक्ष हो गये । व्यास ने स्वयं महाभारत में कहा है कि "एक युग का धर्म दूसरे युग का अधर्म हो सकता है । यह सत्य इतना

अधिक स्पष्ट है कि इसे सभी स्वीकार करते हैं। केवल युगधर्म, आपद् धर्म आदि की संज्ञा देते रहे हैं।

अपराध संहिता में समय-समय पर परिवर्तन एवं विकास आकस्मिक नहीं है। उसके साथ सामाजिक शक्तियाँ कार्य करती हैं। हमारा भारतीय समाज विभिन्न अवयवों एवं सम्प्रदायों का संघीभूत निरपेक्ष रूप है। यद्यपि यह समाहार आनुषंगिक नहीं है। इसके कुछ न कुछ आवश्यक हेतु एवं परिणाम रहे हैं। विभिन्न घटकों ने भारतीय समाज में अपने को आत्मसात् करते समय अपने अधिकार एवं कर्त्तव्य की भी माँग की। इसने ही अपराध एवं उसके अनुरूप दण्ड-विधान को भी विकसित किया।" एक युग का धर्म, अधर्म हो गया एवं अधर्म, धर्म।

अद्यतनीय मानव समाज में यदि एक ओर विज्ञान को भी आश्चर्य में डालने वाली उपलब्धियों से सभ्यता का विकास हो रहा है तो वहीं दूसरी ओर मानवीय-मूल्यों के विघटन की समस्या का भी संत्रास उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विषमताओं का शिकार यह मानव, विवेक को तिलांजलि देकर जैसे भी हो वैसे ही अपने भौतिक स्तर को ऊँचा उठाने का भीषम प्रयास कर रहा है। उसे अब मात्र साधनों के उचित और अनुचित की चिन्ता न होकर अपने साध्य को पाने की उत्कट उत्कण्ठा है। विभिन्न प्रकार के अपराध करने में अब उसे थोड़ा सा भी संकोच एवं लज्जा का अनुभव नहीं है। वह मानव इनके [अपराध के] नित्य-नूतन रूपों के अन्वेषण में अपनी बौद्धिक क्षमता का अपव्यय कर रहा है। आज विधि-वेत्ता एवं प्रशासक दोनों के समक्ष

यह प्रश्न चुनौती बनकर खड़ा हो गया है कि अपराध के इस ताण्डव-नृत्य एवं भीषण-विभीषिका से सन्त्रस्त मानव-समाज को किस प्रकार बचाया जाय तथा उसे मानवता की ओर कैसे उन्मुखीभूत किया जाय । अतएव इसी कारण ऐतिहासिक परम्पराओं एवं उसकी पृष्ठभूमि पर इस विषय में विशेष अध्ययन करने का प्रयास किया जा रहा है ।

व्यक्ति की जीवनी से सम्बन्धित सम्पूर्ण गतिविधियों का विश्लेषण और उन पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन एवं चिन्तन हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है । हमारा धर्मशास्त्र-विषयक विमुख साहित्य इसका प्रमाण है ।

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत धर्मसूत्र, स्मृतियाँ तथा स्मृतियों पर लिखा गयी अनेक टीकाओं एवं निबन्धों के गहन अनुशीलन से स्पष्ट है कि समय-समय पर सामाजिक अपराधों के सम्बन्ध में समाज और राज्य के नियमों एवं कानूनों में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती रही है, जिनके परिणामस्वरूप इन उपर्युक्त ग्रन्थों का सृजन हुआ है । जिनमें भगवान् मनु-प्रणीत धर्मशास्त्र का सर्वाधिक प्रमुख स्थान रहा है । परवर्ती धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में विशिष्टरूपेण उन्हीं का अनुकरण, अनुशीलन, समयानुकूल परिवर्तन एवं संशोधन होता रहा है ।

प्राचीन धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने भारतीय समाज में होने वाले प्रत्येक प्रकार के अपराध तथा उन अपराधों के प्रति दण्ड-विधान पर गम्भीरता के साथ गहन विचार किया है । फलत: कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह आरोप है कि भारतीय विचारधारा धर्म और दर्शन-प्रधान थी, राजशास्त्र जैसे लौकिक एवं समाज

प्रेरित विषयों का उसमें तनिक भी विचार नहीं किया गया है। यह इस कारण किसी भी प्रकार से तर्क-संगत नहीं है। इस अध्ययन से एक बात और उभरकर सामने आयी है कि अपराध और दण्ड-सम्बन्धी इतिहास उतना ही अधिक प्राचीन है, जितना कि मानव-सभ्यता का इतिहास प्राचीन है। अपराध और दण्ड का सम्बन्ध मानव की नैसर्गिक प्रकृति एवं स्वभाव से है, क्योंकि उसके अपराधी स्वभाव के कारण ही समाज में दण्ड एवं उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता की उत्पत्ति हुई।

प्रत्येक युग में और प्रत्येक समाज में सामाजिक प्राणी होते हुए भी व्यक्ति असामाजिक कार्यों की ओर कुछ न कुछ अवश्य ही उन्मुख हो रहा है। हमारे हिन्दू धर्मशास्त्र चिन्तकों ने इस प्रकार की अपरोन्मुखता को मनुष्य का सहज एवं उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मानकर प्रसूत समस्या का समाधान अत्यधिक सुलभ ढंग से किया है। धर्मशास्त्रियों ने एक ऐसे आदर्श युग की परिकल्पना की है कि जब न राज्य था और न ही राजा था। न दण्ड था और न दण्ड देने वाला ही था। प्रजा धर्म का आश्रय लेकर अपनी सुरक्षा स्वयं करती थी। कुछ दिनों पश्चात् मानव-स्वभाव की परिवर्तित स्थिति के कारण सर्वत्र मात्स्य-न्याय व्याप्त हो गया और इसकी समाप्ति के लिए दण्ड-विधान की दैवी शक्ति से युक्त राजा की आवश्यकता ~~महसूस हुई। इस~~ शक्ति द्वारा प्रजा को स्वधर्म पालनार्थ बाध्य करने का अधिकार राजा को प्राप्त हो गया।

राजा भी न्यस्त प्रशासन एवं न्याय-प्रणाली का उत्तरदायित्व संभालते हुए मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था। राजा को निरंकुशता से बचाने के

लिए उसके द्वारा सम्यक् दण्ड प्रयोग पर विशेष बल दिया गया है । प्राचीन भारतीय दण्ड व्यवस्था हमारे सामने एक उच्च कोटि का आदर्श प्रस्तुत करती है जिसके निर्देशन में विधि के सामने कोई अदण्ड्य नहीं है । सम्पूर्ण विश्व की अन्य प्राचीन दण्ड-व्यवस्थाओं से भारतीय दण्ड व्यवस्था अधिक सुसंगत एवं विकसित थी ।

आधुनिक युग की तरह प्राचीन भारत में भी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राजा को अपराधी को क्षमा-दान करने का विशेषाधिकार प्राप्त था । क्षमा दान का यह विशेषाधिकार किसी भी देश की सन्तुलित न्यायिक व्यवस्था का परिचायक है । इसके अलावा दण्ड के उचित परिणाम एवं स्वरूप को निर्धारित करने के लिए न्यायाधीश दण्ड प्रदान करने से पहले अपराधी की जाति, आयु एवं स्थिति, सम्पत्ति, शारीरिक क्षमता, मानसिक स्थिति तथा अपराध का उद्देश्य उसका स्वरूप एवं समय पर विधिपूर्वक विचार कर लेता था, जिसके परिणामस्वरूप उसके अपने विवेक के प्रयोग का पूर्णरूपेण अवसर प्राप्त हो जाता था, जबकि उस समय अन्य प्राचीन एवं पाश्चात्य दण्ड-विधान प्रतिशोधात्मक था । इस दृष्टि से यह आधुनिक न्याय व्यवस्था के सम्मुख भी एक उदाहरण प्रस्तुत करता है, क्योंकि आधुनिक न्यायाधीश की इस विषय में स्पष्ट विचारधारा नहीं रहती है ।

दण्ड-स्वरूपों के अन्तर्गत वाग्दण्ड एवं धिग्दण्ड का विधान स्मृतिकारों को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अद्भुत परिचायक एवं विश्लेषक है । अर्थदण्ड में विशिष्टतया इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वह दण्ड व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुरूप हो ।

कुछ विद्वानों का यह आरोप है कि ब्राह्मण वर्ग के साथ दण्ड-विधान में पक्षपात किया जाता था, यह न्याय एवं तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण उस समय आज जैसी विवादास्पद स्थिति का शिकार नहीं था। तत्कालीन ब्राह्मण बौद्धिक स्तर की दृष्टि से समाज का सर्वोच्च वर्ग था। तत्कालीन समाज के लिए यह वर्ग सर्वाधिक उपयोगी था। इसलिए उसके प्रति दण्ड-विधान में जीवित रहते हुए ही अनेक प्रकार के अपमानजनक चिह्नांकन जैसे दण्डों का विधान किया गया था। जिस कारण उसे आजीवन मानसिक यन्त्रणा भोगने की पूर्णरूपेण व्यवस्था थी। वह व्यवस्था मृत्युदण्ड से भी कहीं अधिक दुःखदायी एवं समाज के लिए चेतावनीदायक थी। अतएव ऐसे दण्ड-विधान सहानुभूतिपरक एवं पक्षपात-पूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं।

हमारे प्राचीन दण्ड-विधान के अन्तर्गत कारावास की व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य ही दृष्टिगोचर होते थे परन्तु उनका परिमार्जन एवं पूर्णरूपेण शोधन आचार्य कौटिल्य ने किया जिसका पल्लवन एवं पुष्पवन आधुनिक वर्तमान युग में हुआ। प्राचीन दण्ड-व्यवस्था में शारीरिक दृष्टि से अक्षम मनुष्यों को शारीरिक यातना नहीं दी जाती थी। यही इतना ही नहीं प्रत्युत प्राचीन काल में मृत्यु-दण्ड अथवा प्राण-दण्ड सम्बन्धी चिन्तन में वही उदार मानवीय दृष्टिकोण एवं विचार परिलक्षित होते हैं, जिसे आजकल के दण्ड-शास्त्री भी सहर्ष स्वीकार करते एवं सम्यक्रूपेण उसका सदुपयोग कर रहे हैं।

प्राचीन भारतीय दण्ड-व्यवस्था में जो कठोरताएँ आधुनिक विचारकों को प्रतीत एवं परिलक्षित होती हैं, वे तत्कालीन परिस्थितियों में अत्यधिक

स्वाभाविक थीं । उनमें अन्य देशों की तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था की अपेक्षा पर्याप्त उदारता एवं श्रेष्ठता विद्यमान थी । प्राचीन भारतीय दण्ड-व्यवस्था एवं न्याय-व्यवस्था धर्मसूत्रों के युगों से अपराधों को धनमूल §दीवानी§ तथा हिंसामूल §फौजदारी§ इन दो रूपों या वर्गों में विभाजित किया गया था । यही वर्गीकरण ही आज की विकसित न्याय-व्यवस्था के लिए आधार माना जा सकता है । प्राचीन काल में उक्त दो श्रेणियों में अपराधियों को दण्ड देने के जितने प्रकार और उपाय सुलभ एवं सुझाये गये थे, उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक न्याय-व्यवस्था का समुचित विकास एवं प्रसार संभव हो सकता है ।

प्राचीन न्याय-व्यवस्था में अपराध के निमित्त दण्ड भोग लेने वाले व्यक्ति के प्रति समाज को उपेक्षा एवं घृणा रखने का कोई औचित्य एवं अधिकार नहीं था । उसका §अपराधी का§ दण्ड ही उसे अपराध से छुटकारा दिलाकर समाज में फिर से सम्मानजनक जीवन-यापन के लिए पर्याप्त था । मानव-समाज में इस प्रकार की भी सुव्यवस्था थी कि किसी भी व्यक्ति के प्रति हेय दृष्टिकोण चाहे वह उसकी शारीरिक अक्षमता को लेकर ही क्यों न हो, दण्ड्य होगा ।

नारी के प्रति उसके चरित्र पर किसी प्रकार का आक्षेप लगाना भी दण्डनीय अपराध था ।

तत्कालीन §प्राचीन§ न्याय-व्यवस्था में चौर्य-कर्म को भी भयंकर अपराध माना जाता था और उसके लिए किसी भी वर्ण को चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो क्षमा-दण्ड नहीं दिया जाता था । ब्राह्मण वर्ण के द्वारा चोरी करने पर

अन्य वर्णों की अपेक्षा उसे अधिक दण्ड की व्यवस्था थी । चोरों को पकड़ने की जो विधियाँ प्राचीन समय में अपनाई जाती थीं, वे इतनी उपयुक्त एवं वैज्ञानिक थीं, कि आज की शासन-व्यवस्था एवं न्याय-व्यवस्था उन्हें सम्यक्रूपेण यथावत् अपनाया जाता है ।

प्राचीन न्याय-व्यवस्था में हत्या सम्बन्धित प्रकरणों का आकलन एवं विवेचन सूक्ष्मतापूर्वक किया जाता था । हत्या और आत्महत्या के अन्तर को सुस्पष्ट करने के लिए उस समय में आज की तरह शव-परीक्षा और शव-विच्छेदन की व्यवस्था थी । सामूहिक एवं वैयक्तिक हत्या के दण्ड का परिणाम भी तदनुरूप होता था । आत्मरक्षा के सिद्धान्त को प्राचीन न्याय-व्यवस्था में अत्यधिक मान्यता प्राप्त थी । इसीलिए आततायी व्यक्ति का वध चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, दण्ड्य था । परन्तु आततायी व्यक्ति से बचने का यदि कोई अन्य मार्ग (विकल्प) है तो उसकी भी हत्या नहीं की जानी चाहिए । इस तरह की स्पष्ट सुव्यवस्था थी ।

वाहन सम्बन्धी दुर्घटनाओं में चालक की सावधानी अथवा असावधानी को दण्ड का आधार माना जाता था । नैतिकता प्राचीन भारतीय समाज का प्रमुख अंग था । अतएव अनैतिक अपराधों को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक लिया जाता था । स्त्री संग्रहण (व्यभिचार एवं बलात्कार) के लिए कठोर दण्डों का नियमन (विधान) किया गया था ।

प्राचीन न्याय-प्रणाली में द्यूत-क्रीड़ा, राजद्रोह, जन-स्वास्थ्य तथा अन्य प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक अपराधों के लिए भी समुचित दण्ड-व्यवस्था थी ।

हमारे इस वर्तमान युग में हमारी विधि-प्रणाली एवं पद्धति एक विदेशी विधि-प्रणाली है परन्तु आजकल लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो चुका है कि किस प्रकार इस विधि-पद्धति को जनसामान्य के लिए ग्राह्य एवं उपयोगी बनाया जाय तथा किस तरह से इसे स्वदेशी रूप एवं तत्त्व प्राप्त हो सके। आपराधिक न्याय-व्यवस्था और भी अधिक वैदेशिकता से परिपूर्ण एवं ओत-प्रोत है क्योंकि इसके साक्ष्य प्रक्रिया आदि के मूल सिद्धान्त भारतीय सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं के अनुकूल नहीं है। अपराध प्रत्येक समाज की एक चिरन्तर समस्या रही है तथा इस समस्या के समाधान के सभी सम्यक् प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। ब्रिटिश शासनकाल से आज तक हम लोगों ने गहन अध्ययन किए बिना आँग्ल विधि पद्धति में आस्था रखते हुए इस समस्या के समाधान का समुचित प्रयास किया गया है जो पूर्वतः सफल नहीं कहा जा सकता है जिस तरह कि अपराधों में निरन्तर वृद्धि तथा युगों बढ़ती हुई शान्ति एवं सुरक्षा की समस्या से स्पष्ट होता है। यहाँ जरूरत इस बात की है कि क्या हम इस समस्या के समाधान में अपनी प्राचीन व्यवस्था से कुछ ग्रहण कर सकते हैं या उसका संशोधित रूप अपना सकते हैं? इस प्रसंग में अपनी भारतीय शासन-व्यवस्था का गहन अध्ययन तथा उस पर शोध (विचार-विमर्श) अत्यन्त सामयिक एवं महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। सम्प्रति इस युग में जहाँ एक ओर अपराधिक दायित्व को नैतिक दायित्व या मानवीय नैतिकता से पृथक् किया जा रहा है उसी जगह दूसरी ओर अत्यधिक आपराधिक दण्ड-विधाओं द्वारा व्यक्तियों में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के निर्माण का भी अथक प्रयास किया जा रहा है तथा सभी विद्वान् इस समस्या का हल ढूँढ़ रहे हैं कि क्या आपराधिक दण्ड द्वारा सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों का

सृजन कर सकते हैं? तथा वे मूल्य क्या होंगे? इसका उदाहरण प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में प्राप्त होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके अध्ययन एवं शोध से हमें सदैव प्रकाश एवं प्रेरणा ही मिलती रहेगा।

उपर्युक्त समालोचनाओं के निष्कर्षों के आलोक में यह बहुत स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज में भी न तो अपराध की समस्या आज से कम भीषण थी और न उसके निराकरण के विभिन्न प्रकार के उपाय ही आज से कम सोचे-विचारे गये थे। उस समय की अनेक विभिन्न व्यवस्थाओं को देखकर तो यही लगता है कि तत्कालीन (उस समय के) विधि-वेत्ता अपनी समस्याओं के प्रति अत्यधिक जागरूक एवं सतर्क थे, एवं उनके मन में इन समस्याओं के उपयुक्त समाधान खोज निकालने की पर्याप्त तत्परता एवं क्षमता विद्यमान थी। वे व्यक्ति को समाज में मानवोचित ढंग से जीवन-यापन करने की शिक्षा दे रहे थे। इसी कारण कोई भी अमानवीय विचार जो इस व्यवस्था में बाधा के रूप में आ सकता था, उसके लिए उन्होंने विधिवत् विचार करके नियोजन किया है।

---------::0::---------

उद्धरण ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद संहिता : जगदीश शर्मा, (हिन्दी भाष्य, अजमेर)

: सायण भाष्य, एस०पी० पण्डित द्वारा सम्पादित, बम्बई ।

ऋग्वेद संहिता : सायण भाष्य, वैदिक शोध मण्डल, पूना ।

तैत्तरीय संहिता : सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना ।

शतपथ ब्राह्मण : एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरदत्त भाष्य, बनारस, 1933.

आपस्तम्ब. : ब्यूलर द्वारा अनूदित, (सै०बु०ई०) वाल्यूम 2, पार्ट 1.

गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना ।

गौतम : ब्यूलर द्वारा अनूदित, (सै०बु०ई०) वाल्यूम 2.

बौधायन धर्मसूत्र : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

बौधायन : ब्यूलर द्वारा अनूदित (सै०बु०ई०), वाल्यूम 14.

वशिष्ठ धर्मसूत्र : बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, बम्बई ।

वशिष्ठ : ब्यूलर द्वारा अनूदित, (सै०बु०ई०), वाल्यूम 14.

मनुस्मृति : चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठानम्, दिल्ली ।

: गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित ।

: हिन्दी अनुवाद (चौखम्भा सं० सीरीज) वाराणसी ।

विष्णु स्मृति : जाली द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1881.

: जाली द्वारा अनूदित, (सै०बु०ई०), वाल्यूम 7।.

याज्ञवल्क्य स्मृति : चौखम्भा वाराणसी (मिताक्षरा सहित हिन्दी अनुवाद)

पराशर स्मृति : बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई ।

बृहस्पति स्मृति : गायकवाड़, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा ।

नारद स्मृति : जाली द्वारा अनूदित ।सै0बु0ई0। वाल्यूम 33.

कात्यायन स्मृति : काणे, पूना, 1933.

स्मृतीनां समुच्चय : आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, पूना ।

स्मृति सन्दर्भ : कलकत्ता

वाल्मीकि रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

अग्निपुराण : सं0 राजेन्द्र लाल मिश्र, कलकत्ता ।

: गीता प्रेस, गोरखपुर ।

भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, चौखम्भा, वाराणसी ।

मत्स्य पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

मार्कण्डेय पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर एवं बेंकटेश प्रेस, बम्बई ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : बेंकटेश प्रेस, बम्बई ।

कूर्म पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

स्कन्द पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

पद्म पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

ब्रह्माण्ड पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

वायु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

मृच्छकटिकम् : शूद्रक (हिन्दी अनुवाद सहित) हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, 252, वाराणसी ।

कौटिलीय अर्थशास्त्रम् : कृष्णदास संस्कृत सीरीज, वाराणसी

: चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

: (हिन्दी अनुवाद) श्री वाचस्पति गैरोला ।

कामन्दकीय नीतिसार: सं0 राजेन्द्र लाल मिश्र, कलकत्ता ।

दण्ड-विवेक : (वर्धमान-कृत) गायकवाड़ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1931.

शुक्रनीति : हिन्दी अनुवाद, चौखम्भा, वाराणसी ।

विवाद रत्नाकर : (चण्डेश्वर ठाकुर कृत) एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता ।

सरस्वती विलास : संस्कृत सीरीज, मैसूर ।

स्मृति चन्द्रिका : व्यवहार काण्ड (देवणभट्ट कृत) गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर ।

रघुवंश महाकाव्यम् : चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

मालविकाग्निमित्रम् : चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

हर्षचरित : हिन्दी अनुवाद, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

कल्हण की राजतरंगिणी: चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

दीघ निकाय : पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार ।

अल्तेकर अ0स0 : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, 1959.

आचार्य, पं0 श्रीराम शर्मा : 20 स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड एवं द्वितीय खण्ड, 1966.

काणे, डॉ० पाण्डुरंग : वामन — धर्मशास्त्र का इतिहास, अनुवाद अर्जुन चौबे, काश्यप, हिन्दी समिति, लखनऊ ।

त्रिपाठी, डॉ० हरिहर: वामन — प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।

: प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास, 1965.

डॉ० साधना शुक्ला : प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, 1987.

निरुक्त यास्क : साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार, मेरठ ।

Barker, E. : Political Thought in England.

Blackstone : Commentaries, Vol. IV.

Bhargava, P.L. : India in the Vedic Age, Lucknow.

Das Gupta, Ramprasad : Crime and Punishment in Ancient India, Calcutta.

Gour, Sir Hori Singh : The Penal Law of India, Vol. I, Allahabad, 1966.

Jayaswal, K.P. : Manu and Yajnavalkya, Calcutta, 1930.

Jolly, Julius : Hindu Law and Customs, Tr. B.K. Ghosh, Calcutta, 1928.

Kenny : Out Lines of Criminal Law.

Lee : Historical Jurisprudence.

Maine, Sir Henry : Ancient Law, London, 1931.

Indian Penal Code, 1834.

Oppenheimer : Rationale of Punishment.

Pal, Radhabinoda : The History of Hindu Law, Calcutta University, 1958.

Salmond, John : Jurisprudence, 10th Ed.

Sen, P.K. : Penology Old and New, Calcutta, 1943.

Sethna, M.J. : Society and the Criminal, Bombay, 1952.

Stephen : General view of Criminal Law.

: History of English Criminal Law, Vol. I, II and III.

Surherland H.E. & Cressey, D.R. : Principles of Criminology, 6th ed. The Times of India Press Bombay, 1965.

Taft, R.Donald : Criminology.

Vardachariar, S. : The Hindu Judicial System, Lucknow University, 1946.

Sanskrit English Dictionary : Sir M.M. Williams, Oxford.

———::o::———